ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ

वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम ॥१॥
मूकं करोति वाचालं, पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥२॥

प्रथम अध्याय
अर्जुनविषादयोग

धृतराष्ट्र बोले –

धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में, जुटे युद्ध को आन ।
कौरव-पाण्डव-कर्म का, संजय करो बयान ॥१.०१॥

संजय बोले –
देख पाण्डवों की सेना को । व्यूहमयी सुन्दर रचना को ।
द्रोण-पास दुर्योधन आये । राजा ने ये वचन सुनाये ॥

हे आचार्य, पाण्डु-पुत्रों की । सेना आप देखिये महती ।
द्रुपद-पुत्र की व्यूह-रचना को । बुद्धिमान तव शिष्य महा जो ॥

युद्धवीर भीम-अर्जुन जैसे। महा धनुर्धारी बहु वैसे ।
सात्यकि शूर विराट वहां हैं । महारथी श्री द्रुपद जहां हैं ॥
धृष्टकेतु चेकितान सुभट वर । काशिराज बलवान महत्तर ।
पुरुजित कुन्तिभोज नरपुंगव। शैब्य समान शौर्य के गौरव ॥
युधामन्यु अति विक्रमशाली । उत्तमौजा है अति बलशाली ।
पुत्र सुभद्रा द्रौपदी-सुत वरा । योद्धा एक-एक से बढ़कर ॥

सेना नायक-मध्य निज, जो विशिष्ट सो जान ।
द्विज-उत्तम, मैं कर रहा, अब तव हेतु बखान ॥१.०७॥
आप, भीष्म, कृप समर-विजेता । कर्ण, विकर्ण, वीरवर चेता ।
अश्वत्थामा वीर धुरन्धर । सोमदत्त के पुत्र सुभट वर ॥
शूर वीर अति और बहुत से । अस्त्र-शस्त्र हैं नाना जिनके ।

युद्ध-विशारद सब ही गुरुवर । मम-हित प्राण-त्याग को तत्पर ॥

भीष्म-सुरक्षित निज सेना-दल । है अविजेय असीमित जन-बल ।
भीम-सुरक्षित उनकी सेना । सीमित, सुगम विजय कर लेना ॥
सभी मोर्चों पर व्यूह डाले । अपना-अपना भाग संभाले ।
प्रभु हों आप सभी ही सुस्थित । भीष्म पितामह को कर रक्षित ॥

भीष्म पितामह कुरुकुल-गौरव । सिंहनाद सम कर स्वर रौरव ।
फूंका शंख, किया नभ गुंजित । दुर्योधन-मन को कर हर्षित ॥

नृसिंह मृदंग औ ढोल सब, शंख नगारे और ।
एक साथ गूंजे सहस, हुआ शब्द घनघोर ॥१.१३॥

श्वेत अश्वयुत रथ में उत्तम । सुस्थित अर्जुन हरि देवोपम ।
शंख अलौकिक निज तदनन्तर । बजा उठे नभ-धरा गुंजा कर ॥

पांचजन्य हृषीकेश-निनादित । देवदत्त अर्जुन से गुंजित ।
भीमकर्ममय भीम बृकोदर । महाशंख पौण्ड्र गूंजा स्वर ॥

धर्मराज कौन्तेय सुराजा । उनका अनन्त विजय बाजा ।
हुआ सुघोष औ नकुल-निनादित । मणिपुस्पक सहदेव-सुगंजित ॥
काशिराज शुचितम धनुधारी । और शिखण्डी अति बलधारी ।
धृष्टधुम्न औ विराट बीरा । सात्यकि औ अजेय रणधीरा ॥
द्रुपद, द्रौपदी-पंच-तनयजन । महाबाहु सौभद्र, हे राजनट
इन सब ने अति मन हर्षाये । अलग-अलग निज शंख गुंजाये ॥

गुंज उठा सब नभ-धरा, नाद भयंकर घोर ।
कौरव-दल के हृदय सब, कर विदीर्ण चहुं ओर ॥१.१९॥

देख कौरवों को, हे राजन । पूर्ण व्यवस्थित कपिध्वज अर्जुन ।
शर-संधान-प्रवृत्त उठा धनु । बोला, हृषीकेश को, हे प्रभु ।
दोनों सेनाओं के, हे अच्युत । करें मध्य में रथ को सुस्थित ॥

भली भांति मैं देख लूं, यद्वेच्छुक सब लोग ।
इनमें से रणकर्म में, कौन हमारे जोग ॥१.२२॥

रण में दुर्योधन-हितकामी । जुटे यहां जो अति बलधामी ।
युद्धातुर मैं सब उन उन को । भली भांति देखूं जन जन को ॥

सुन कर अर्जुन की यह वाणी । भारत, हृषीकेश कल्याणी ।
उत्तम रथ उस थल ले आये । दोनों सेना-मध्य जमाये ॥
राजा सब एकत्र मही के । भीष्म-द्रोण सम्मुख सब ही के ।
बोले वचन, पार्थ, कर दर्शन । जो एकत्र यहां कौरव जन ॥

देखा तब था पार्थ ने, दोनों सेना मध्य ।
खड़े पितामह, पितृजन, मामा, भ्रातृ अबध्य ॥१.२६॥
पुत्र-पौत्र, आचार्य-जन, श्वसुर, सुहृदजन मित्र ।
सभी अवस्थित बान्धवों, के पाषाणी चित्र ॥१.२७॥

शोकमग्न होकर अति अर्जुन । बोला करुण बचन, मधुसूदन ।
देख स्वजन सब यहां उपस्थित । युद्धेच्छा को, हरि, एकत्रित ॥
अंग अंग मम शिथिल हुआ है । सूख रहा मुख और महा है ।
है शरीर में कम्पन भारी । उठे रोंगटे, कृष्ण मुरारी ॥

हाथों से गांडीव फिसलता । त्वचा जल रही, अति तन जलता ।
भ्रमित हो रहा मम मन निर्बल । खड़ा रहन में भी मैं असफल ॥
शकुन अशुभ सब ही परिलक्षित । है कल्याण न दिखता किंचित ।
समर-मध्य कर कुलजन-हत्या । हे केशव, हम पायेंगे क्या? ॥
नहीं कामना, कृष्ण, मिले जय । या, गोविन्द, राज्य सुख अक्षय ।
हमें राज्य से कौन प्रयोजन । भोगों से या ले यह जीवन? ॥
राज्य, भोग, सुख जिन हित सारे । हम चाहत हैं शाम सकारे ।
वे सब त्याग प्राण-धन-आशा । खड़े समर की ले अभिलाषा ॥
गरुजन पौत्र पितृजन सारे । श्वसुर पितामह बन्धु हमारे ।
मामा, पुत्र, स्वजन सब साले । सभी यहां हैं युद्ध-इच्छा ले ॥
यदि इनके वध से मधुसूदन । राज तीन लोकों का अर्जन –
हो, तो भी न कभी हो इच्छा । इनके वध की, पृथ्वी तो क्या ॥

कौरव-वध से, कृष्ण, है, कौन हर्ष क्या सिद्धि ।
आततायी जन मारकर, पाप मात्र उपलब्धि ॥१.३६॥

यूं माधव निज बन्धु-स्वजन का । बध करना इन कौरव-जन का ।
शोभा हमें नहीं कुछ देगा । स्वजन मार सुख कौन मिलेगा ॥
यद्यपि लोभ-भ्रष्ट मन इनके । कुल-क्षय-जन्य-दोष-दर्शन के ।
हैं अयोग, कुछ देख न पाते । पाप मित्र-द्रोह नहीं ज्ञाते ॥
पर, जनार्दन, हम जग त्राता । कुल-क्षय-जन्य-दोष के ज्ञाता ।
प्रभु, क्या हमें न है श्रेयस्कर । रहें पाप ऐसे से बच कर ॥

कुल हैं नष्ट पूर्ण जब होते । सब कुल-धर्म सनातन खोते ।
धर्म-नाश से सब कुल को फिर । पाप-अधर्म दबा लेते चिर ॥

पाप-बृद्धि से होत हैं, दूषित अति कुलनार
वर्णसंकरों से भरे, कुलटायें घर बार ॥१.४१॥

संकर से कुलघाती सब कुल । पाते हैं बस घोर रसातल ।
तर्पण-पिण्ड-विहीन विचारे । पतित पितर इनके हों सारे ॥
वर्णसंकरों के प्रजनन से । पाप-दोष कुलघाती जन के ।
सभी जाति-कुल-धर्म मिटाते । नियम सनातन सब मिट जाते ॥

नर जो यूं कुल-धर्म-पतित है । हे जनार्दन, यह जन-श्रुत है ।
वे चिरकाल नरक के वासी । पात हैं अति कष्ट विनाशी ॥

हाय, लोभ-वश राज्य-सुखों के । प्राणघात को हम अपनों के ।
बुद्धिमान होकर भी संयत । महापाप करने को उद्दत ॥

अप्रतिकार निरस्त्र, सुनीरव । मुझे अगर मारें भी कौरव ।
वे सशस्त्र, दुख हो नहीं किंचित । उसमें मम कल्याण सुनिश्चित ॥

संजय बोले –

ऐसा कह रणक्षेत्र में, धनुष-बाण कर त्यक्त ।
पीछे रथ में पार्थ था, बैठा, हो संतप्त ॥१.४७॥

इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय
सांख्ययोग

संजय बोले –

यूं करुणायुत अश्रुमय, विकल नयन, अति म्लान ।
अर्जुन से बोले वचन, मधुसूदन भगवान ।।२.०१।।

श्रीभगवान बोले –
विषम काल में तुझको अर्जुन । यह अज्ञान हुआ किस कारन?
श्रेष्ठ पुरुष आचरण न है यह । स्वर्ग न यश का दायक है यह ।।
तुझे नरपुंसक भाव न घेरे । अनुपयुक्त अर्जुन यह तेरे ।
क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को । त्याग परंतप, तुरत खड़ा हो ।।

अर्जुन बोले –
भीष्म-द्रोण से, हरि, मैं क्योंकर । युद्ध करूंगा रण में ले शर ।
पूज्य हमारे, हे मधुसूदन । दोनों ही तो हैं अरिसूदन ।।

इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से है भला,
यदि मांग भिक्षा जगत में हो पेट यह मेरा पला ।

मैं मार गुरुजन लोक में जो भोग भोगूं सब कहीं,
क्या अर्थ-काम-पदार्थ होंगे वे रुधिर-डूबे नहीं ।।
क्या धर्म हम को श्रेष्ठ है, हम जानते यह भी नहीं,
होगी विजय उनकी या अपनी, है न निश्चित कुछ कहीं ।
हम मार कर जिनको तनिक भी चाहते जीना नहीं,
सम्मुख हमारे हैं खड़े धृतराष्ट्र के वे पुत्र ही ।।२.०६।।
हूं धर्म भ्रष्ट, स्वभाव अपहृत, भीरुता के पाप से,
है श्रेय निश्चित क्या मुझे, प्रभु पूछता हूं आप से ।
मैं शिष्य हूं प्रभु आपका उपदेश मुझको कीजिये,
मुझ शरण में आये हुए को आप शिक्षा दीजिये ।।२.०७।।
निर्बाध हो साम्राज्य भू का ऋद्धि सिद्धि हरा भरा,
अधिपति बनूं या स्वर्ग का, पा देवताओं की धरा ।

तब भी न कुच्छ मैं देखता, जो दूर शंका कर सके,
जो शुष्क करता इन्द्रियों को शोक मेरा हर सके ।।२.०८।।

संजय बोले –
यह कह कर हृषीकेश से, राजन । फिर बोला यूं प्रभु से अर्जुन ।
'युद्ध न करना मुझे भयंकर' । मौन हुआ अर्जुन यह कह कर ।।

सेनाओं के मध्य अवस्थित । हुआ मोहवश जो अति विस्मित ।
हृषीकेश उस शोक भरे से । भारत, यूं बोले हंसते से ।।२.१०।।

श्रीभगवान बोले –
शोक योग्य नहीं जो हैं, उनको । शोक करे तू , बोल वचन को –
पंडित जैसा; शोक न पंडित – करते मृत-हित या जीवित हित ।।

मैं, तू , राजा लोग सभी ये । किसी काल में नहीं कभी थे ।
ऐसा नहीं, न सच यह होगा । कोई न हम में से फिर होगा ।।२.१२।।
बाल-युवा-वृद्धावस्था ज्यों । देही इस तन में पाता त्यों ।
मरने पर नव देह वरे है । धीर भ्रमित हो यूं न डरे है ।।२.१३।।
शीत-घाम सुख-दुख के अंकुर – इन्द्रिय-योग भोग क्षण भंगुर ।
भारत, ये अनित्य हैं नश्वर । अर्जुन इनको, धीर सहन कर ।।२.१४।।

जो समान समझे सुख-दुख को । पुरुष-श्रेष्ठ, उस धीर मनुज को ।
इन्द्रिय-विषय न करते व्याकुल । मोक्ष-प्राप्ति के वह ही काबिल ।।
जो है नहीं, नहीं वह होता । जो है, वह अस्तित्व न खोता ।
तथ्य-सत्य दोनों का बुधजन । यूं अनुभव करते हैं दर्शन ।।२.१६।।
सभी जगत में व्याप्त जो, ज्ञान उसी का इष्ट ।
उस अविनाशी को भला, कौन कर सके नष्ट ।।२.१७।।

जीवात्मा असीम अविनाशी । नित्य, देह जिसकी सब नाशी ।
निस्संकोच अतः तु भारत । उठकर युद्ध-मध्य हो जा रत ।।२.१८।।

आत्मा का हत्यारा निज को । समझे, या माने मृत इस को ।
दोनों ही न जानते हैं यह । मरता है न मारता है वह ।।२.१९।।

जनमती न मरती यह आत्मा कहीं है,
यह होकर के फिर, फिर भी होती नहीं है ।
अजन्मी है यह नित्य शाश्वत पुरातन,
नहीं नष्ट होती जब होता मृतक तन ।।२.२०।।

अर्जुन जो आत्मा को जाने । अजर, अमर, नित, अज यह माने ।
कैसे बह किसको मरवाता । किसका घात पुरुष कर पाता ।।२.२१।।
जीर्ण-शीर्ण कर त्याग वसन को । धारण करता नर नूतन को ।
जीवात्मा तज यूं क्षत तन को । पाता है शरीर नूतन वो ।।२.२२।।
शस्त्र काटता नहीं इसे है । अग्नि जलाती नहीं जिसे है ।
जल इसको है नहीं गलाता । पवन कभी नहीं इसे सुखाता ।।२.२३।।
छिदने, गलने, जलने वाली । नहीं शुष्क औ होने वाली ।
यह आत्मा दृढ़, अचल, सनातन । सर्व व्यापी है नित्य चिरन्तर ।।
यह अचिन्त्य, अव्यक्त, अविकारी । आत्मा, यह कहते सुविचारी ।
जान इसे तू , अर्जुन, वैसा । शोक न कर इसके हित ऐसा ।।२.२५।।

सदा जनमती, मरती है वह । महाबाहो, यदि तव मति है यह ।
तो भी शोक-योग्य हे अर्जुन । आत्मा कभी नहीं है किंचन ।।२.२६।।
जन्म हुआ तो मरना ही है । मृत को पुनः जनमना ही है ।
अटल बात यह सोलह आने । शोक-योग्य आत्मा मत माने ।।२.२७।।
जनम-पूर्व सब जीव विदेही । मरने पर भी फिर वैसे ही ।
लगें बीच में वे तनधारी । अर्जुन, फिर चिन्ता क्या भारी ।।२.२८।।
देखें कुछ आश्चर्यवत, वैसे कहते अन्य ।
सुनते कुछ आश्चर्यवत, सुनें न जानें अन्य ।।२.२९।।
भारत, सब जीवों के तन में । नित्य अवध्य रहे जन-जन में ।
इसीलिये सब जीवों के हित । शोक तुझे करना है अनुचित ।।२.३०।।

यदि स्वधर्म को भी देखे तू । योग्य नहीं, भयभीत बने तू ।
धर्मयुद्ध से बढ़ श्रेयस्कर । कर्म नहीं क्षत्रिय को हितकर ।।२.३१।।

स्वर्ग रूप यह द्वार स्वयं ही । खुला पार्थ, जो प्राप्त है यूं ही ।
इस प्रकार का युद्ध कभी ही । पाते भाग्यवान छत्री ही ।।२.३२।।

धर्मयुद्ध अब यदि न करे तू । मन में अपने व्यर्थ डरे तू ।
खो स्वधर्म निज कीरति सारी । अर्जुन, होगा पापाचारी ।।२.३३।।

चिर कालिक अपकीर्ति तुम्हारी । कथन करेंगे सब नर-नारी ।
सम्मानित पुरुषों को दुखकर । अपयश है मरने से बढ़कर ।।२.३४।।

भय से महारथी महाभागा । मानेंगे, तू रण से भागा ।
माननीय जिनको है अब तू । क्षुद्र उन्हीं को होगा तब तू ।।२.३५।।

तेरा अहित चाहने वाले । बोलें वचन न कहने वाले ।
तेरी क्षमता की निन्दा कर । क्या दुख होगा उस से बढ़ कर ।।२.३६।।

जीते तो भू-राज्य है, मरे अगर सुरलोक ।
उठो, खड़े हो, युद्ध का निश्चय कर बिन शोक ।।२.३७।।
हानि-लाभ जय-विजय को, सुख-दुख को सम माप ।
तत्पर हो तू युद्ध को, नहीं लगेगा पाप ।।२.३८।।

सांख्यज्ञान तव हेतु बखाना । सुनो योग अब, पार्थ महाना ।
पाकर जिसे प्रबुद्ध बनेगा । कर्म-बन्धनों से छूटेगा ।।२.३९।।
कर्म-मूल का नाश न इस में । फल-बाधा-आभाश न इस में ।
थोड़ा भी इस धर्म का पालन । है महान भय-मुक्ति-विमोचन ।।२.४०।।

निश्चयात्मक इस पथ में सुन । बुद्धि एक ही है, हे अर्जुन ।
बहु बुद्धियां अविवेक भरों की । होती हैं अनन्त भेदों की ।।२.४१।।

वेदवादी, कामेच्छुक अर्जुन । 'है कुछ और न' जिनका प्रवचन ।
स्वर्ग मानते श्रेष्ठ परमतम । अविवेकी वे घोर मूढ़तम ।।२.४२।।
जन्म-कर्म-फल की जो दायक । अनन्त क्रिया-विस्तार-प्रसारक ।
भोग-विलास-प्राप्ति-हित प्राणी । लच्छेदार बोलते वाणी ।।२.४३।।

स्निग्ध वाणी अपहृत चित जिनका । भोग-विलास राग है मन का ।
समाधिस्थ जो कहीं नहीं है । निश्चयात्मक बुद्धि नहीं है ।।२. ४४।।

त्रिगुण-विषयक हैं वेद सब, गुणातीत हो व्यक्त ।
द्वन्द्वयोग तज क्षेम नित, आत्मवान सत्त्वस्थ ।।२.४५।।

सब दिशि से परिपूर्ण जलाशय । पाकर, कौन कूप से आशय ।
ब्रह्मज्ञान पा कर विद्वज्जन । रखें वेद से कौन प्रयोजन ।।२.४६।।
तव अधिकार मात्र कर्मों में । कभी नहीं कुछ किन्तु फलों में ।
कर्म-सुफल-आसक्ति न हो तव । औ अकर्म-अनुरक्ति न हो तव ।।
हे धनंजय, मोह को तज कर । सिद्धि-असिद्धि मध्य सम हो कर ।
हो योग-स्थित कर्मों को कर । योग समत्वभाव, कहते नर ।।२.४८।।

बुद्धियोग से कर्म धनंजय । है अति तुच्छ, हीन है अतिशय ।
अतः बुद्धि की शरण ग्रहण कर । है अति दीन फलाकांक्षी नर ।।२.४९।।

बुद्धियुक्त जन सब करे, पाप-पुण्य का त्याग ।
कर्म कुशलता है यही, योग-युक्त बन, जाग ।।२.५०।।
कर्मोत्पन्न सभी फल तज कर । कर्मयोगी ज्ञानी जन मुनिवर ।
मुक्त जन्म-बन्धन से होकर । पाते अमृत-पद श्रेयस्कर ।।२.५१।।
जब तव बुद्धि मोह दलदल से । तर जायेगी पाप सलिल से ।
है श्रवणीय या कि श्रुत है जो । तब वैराग्य मिले तुझको वो ।।२.५२।।

बहुश्रुत भ्रमित बुद्धि तब चंचल । समाधिस्थ जब होगी निश्चल ।
और अचल, अर्जुन, उस क्षण ही । योग समत्व मिले निश्चित ही ।।

अर्जुन बोले –
समाधिस्थ दृढ़ प्रज्ञ सुजन का । केशव, क्या लक्षण दृढ़ मन का ।
सुस्थिर बुद्धि बोलता कैसे । और बैठता, चलता कैसे? ।।२.५४।।

श्रीभगवान बोले –
जब मन-बसी कामनायें सब । पार्थ, त्याग देता है नर तब ।
तुष्ट स्वयं में स्वयं से होकर । सुस्थित-प्रज्ञ कहाता है नर ।।२.५५।।
दुख में मन में दाह नहीं है । सुख में कोई चाह नहीं है ।
राग-द्वेष, भय-क्रोध न जिसको । सुस्थित-बुद्धि कहें मुनि उसको ।।

मोह-हीन सर्वत्र सदा नर । यह वह शुभ अशुभ प्राप्त कर ।
नहीं जिसको सुख द्वेष न किंचित । उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित निश्चित ॥
कच्छुआ ज्यों अपने अंगों को । वैसे जो ले सब इन्द्रियों को ।
इन्द्रिय-विषयों से समेट जब । उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है तब ॥२.५८॥

भोग त्याग देने से जन के । विषय दूर होते तन-मन के ।
दूर राग-रस नहीं होता पर । मिटता वही ब्रह्म को पाकर ॥२.५९॥

विज्ञ-पुरुष-मन भी यहां, जो हैं पार्थ सचेत ।
मथने वाली इन्द्रियां, मन से हैं हर लेत ॥२.६०॥

उन सब इन्द्रियों को वश में कर । मुझमय पूर्ण समाहित होकर ।
सब इन्द्रियां हैं वश में जिसकी । पूर्ण प्रतिष्ठित प्रज्ञा उसकी ।

करता नर विषयों का चिन्तन । आसक्त उन्हीं में फिर जन ।
जन्म काम जिससे है पाता । काम क्रोध को है उपजाता ॥२.६२॥
क्रोध से मूढ़भाव है होता । मूढ़भाव से सुधिजन खोता ।
बुद्धिनाश है सुधि खोने पर । बुद्धिनाश से नष्ट सभी फिर ॥२.६३॥

राग-द्वेष से मुक्त हुई जो । वश में कर उस हर इन्द्रिय को ।
भोग भोगकर भी साधक जन । पाता पुण्य-प्रसाद भरा मन ॥२.६४॥

वह पावन प्रसाद पाने पर । कष्ट-मुक्त पूरा होता नर ।
उस नर की जो है प्रमुदित मन । दृढ़ होती है बुद्धि उसी क्षण ॥२.६५॥
योग-साधना-हीन निरीश्वर । श्रेष्ठ बुद्धि नहीं पाता है नर ।
आस्तिक भाव न शांति उसे हो । फिर अशान्त को सुख कैसे हो ॥

इन्द्रियों में रहतीं जो विचरित । जिस इन्द्रिय में है मन मोहित ।
बुद्धि वही हर लेती जन की । ज्यों जल-नौका लहर पवन की ॥२.६७॥
महाबाहो, इन्द्रिय हर जो नर । हटा भोग से, वश में ले कर ।
सब प्रकार हो संयममय नित । उसकी होती बुद्धि प्रतिष्ठित ॥२.६८॥
सब की निशा – जगत सब सोता । संयमी उसमें जागृत होता ।

जागें जिसमें जीव सभी ही । मुनि के लिये रात्रि है वह ही ।।२.६९।।
सब ओर से परिपूर्ण अविचल, सिन्धु में आकर गिरें,
अनगिन सरित-जल समाकर ज्यों, कुछ प्रभाव नहीं करें ।
इस भांति ही दृढ़-बुद्धि नर में, समाता हर भोग है,
चिर शान्ति पाता, वह नहीं जो कामियों का योग है ।।२.७०।।
सभी कामनाओं को त्यागे । अहंकार ममता से भागे ।
अनासक्त हो जीता जीवन । परम शान्ति पाता वही जन ।।२.७१।।
ब्रह्म-प्राप्त जन की सुस्थित यह । पाकर जिसे न हो मोहित वह ।
अन्तकाल में भी इस में ही । थिर हो, उसको मोक्ष मिले ही ।

कर्मयोग

अर्जुन बोले –
तव मत में यदि बुद्धि है; कृष्ण, कर्म से ज्येष्ठ ।
घोर कर्म में क्यों मुझे, लगा रहे सुरश्रेष्ठ ।।३.०१।।
उलझन भरे वचन तव मिश्रित । बुद्धि कर रहे मम भ्रम-मोहित ।
एक वचन कहिये निश्चय कर । जो हो मुझको, प्रभु, हितकर ।।

श्रीभगवान बोले –
दो प्रकार की निष्ठा, अर्जुन । की है पहले मैंने वर्णन ।
ज्ञानयोग से ज्ञानी जन की । कर्मयोग से योगीगण की ।।३.०३।।

अनारम्भ से ही कर्मों के । जन निष्काम-भाव नहीं होते ।
और न कर्म-त्याग से केवल । सिद्धि-प्राप्ति का है मिलता फल ।।

बिना कर्म करते कोई नर । कभी न रह पाता है पल भर ।
प्रकृति-जन्य गुण द्वारा सब जन । करते कर्म अवश्य अवश मन ।।
कर्मेन्द्रियों को वश में कर जन । जो करता विषयों का चिन्तन ।
मन से, मूढ आत्म-अविचारी । कहलाता वह मिथ्याचारी ।।३.०६।।

इन्द्रियों को मन से वश में कर । अनासक्त कर्मेन्द्रियों से नर ।
कर्मयोग आचरण करे जो । अर्जुन, श्रेष्ठ सुनिश्चित है वो ।।३.०७।।
विधिवत कर तू कर्म को, श्रेष्ठ अकर्म से कर्म ।
कर्म बिना न सधे कभी, तन का भी तव धर्म ।।३.०८।।

जो यज्ञार्थ किये नहीं अर्जुन । बनते कर्म मनुज को बन्धन।
सो आसक्ति-रहित नित होकर । शुचितम कर्म-आचरण को कर ।।

यज्ञ-सहित रच सृष्टि प्रजा को । आदिकाल ब्रह्मा बोले यों ।
यज्ञ-कर्म कर बढ़ो निरन्तर । मिलें इष्टफल सभी यजन कर ।।३.१०।।

यज्ञ द्वारा देवों को उन्नत । करो देव औ तुम्हें समुन्नत ।
उन्नति करते हुए परस्पर । पाओ परम सुफल श्रेयस्कर ।।३.११।।

यज्ञ-तृप्त होकर सुर तव हित । करें प्रदान भोग-फल वांछित ।
दैवी फल बिन सुरगण-अर्पित । भोगे जो नर, चोर सुनिश्चित ।।३.१२।।

यज से बचे अन्न का भोजन । सन्त करें, छूटें अध बन्धन ।
पापी जो निज हेतु पकाते । वे हैं स्वयं पाप ही खाते ।।३.१३।।

अन्नोत्पन्न जीवजन सारे । अरु वर्षा से अन्न उगारे ।
और यज्ञ से वर्षा सम्भव । कर्मों से है यज्ञ समुद्भव ।।३.१४।।
कर्म हुआ है ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से जान ।
सब में व्यापी ब्रह्म यूं , यज्ञ-रमा नित मान ।।३.१५।।

चलते चक्र-अनुसार नहीं जो । करता है व्यवहार नहीं वो ।
अर्जुन, इन्द्रिय-लम्पट-कामी । व्यर्थ जी रहा पाप-विरामी ।।३.१६।।
प्रीति करे आत्मा में जो पर । तृप्त आत्मा में ही जो नर ।
है संतुष्ट आत्मा में ही । उसके लिये कार्य नहीं कोई ।।३.१७।।

उसका विश्व-लोक में, अर्जुन । कर्म-अकर्म से नहीं प्रयोजन ।
सभी प्राणियों में उसके हित । स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध न किंचित ।।३.१८।।

अनासक्त यूं , पार्थ, निरन्तर । तू कर्त्तव्य-कर्म-पालन कर ।
अनासक्त रह कर्म करे जो । परमात्मा को प्राप्त करे वो ।।३.१९।।

विज्ञ विदेह आदि सब ने ही । सिद्धि प्राप्त की कर्मों से ही ।
करके और लोक-हित-मंथन । कर्म-पात्र हो शुभ तू अर्जुन ।।३.२०।।
जो जो श्रेष्ठ आचरण करता । जन-समाज वैसा ही करता ।
वह जो है प्रमाण कर देता । लोक उसी पथ पग धर देता ।।३.२१।।

त्रिभुवन में कर्त्तव्य मम, यधपि पार्थ, न धर्म ।
प्राप्य न कुछ अप्राप्त है, तदपि करूं मैं कर्म ।।३.२२।।

कर प्रमाद का पूर्ण विसर्जन । यदि न कर्मरत होऊं, अर्जुन ।
सब प्रकार बही कदाचित । मम पथ का अनुसरण करें नित ।।३.२३।।
कर्म-विरत मैं अगर हुआ रे । लोक नष्ट हो जायें सारे ।
बनूं वर्णसंकर का कर्ता । प्रजा-प्राण सब ही का हर्ता ।।३.२४।।
कर्मासक्त मूढ़जन,भारत । जैसे हुए कर्म में हैं रत ।
बुधजन अनासक्त त्यों होकर । कर्म करें जनहित से मन भर ।।३.२५।।
कर्मासक्त महा अज्ञानी । करे भ्रमित तिन बुद्धि न ज्ञानी ।
कर्म करे शुचि हो योग-स्थित । करे अन्य को भी वह प्रेरित ।।३.२६।।

त्रिगुणों का माध्यम अपनाती । प्रकृति सभी है कर्म कराती ।
अहंकार-मोहित-आत्मा जन । 'मैं करता हूं' माने निज मन ।।३.२७।।

गुण और कर्मविभागों को जो । तत्त्व जानते हैं बुद्धजन वो ।
गुण-गण में गुण-खेल सभी हैं । मान, नहीं आसक्त कभी हैं ।।३.२८।।

प्रकृति-गुणों से भ्रमित, गुण-कर्मों में आसक्त ।
मंद मूढ़ को नहिं करे, विचलित ज्ञानी भक्त ।।३.२९।।

कर अध्यात्म-निष्ठ अपना चित । सभी कर्म कर मुझे समर्पित ।
फल-आशा ममता तज, अर्जुन । करो युद्ध, संताप न रख मन ।।३.३०।।

जो कोई भी श्रद्धानत नर । दोष-बुद्धि से मुक्त निरन्तर ।
मेरे मत-अनुसार चलेंगे । कर्म-मुक्ति पूरी पा लेंगे ।।३.३१।।
दोष-दृष्टि वाले मूरखजन । मम उपदेश न करते पालन ।

ज्ञान विमूढ़ पूर्णतम उनको । अर्जुन, नष्ट हुआ ही समझो ।।३.३२।।

प्रकृति-विवश जीते सब प्राणी । ज्ञानी भी और सब अज्ञानी ।
प्रकृति-भूत सब का चेष्टा क्रम । व्यर्थ जहां निग्रह-हठ संयम ।।३.३३।।

इन्द्रिय-इन्द्रिय-भोग-व्यवस्थित । राग-द्वेष जो जो भी हैं नित ।
अरि, कल्याण-मार्ग-बाधा वे । उनके वश में कभी न आवे ।।३.३४।।

शीलोचित परधर्म से बढ़ कर । निज गुण-हीन धर्म श्रेयस्कर ।
मरना भी स्वधर्म में हितकर । है परधर्म महान भयंकर ।।३.३५।।

अर्जुन बोले –
हे वार्ष्णेय, स्वयं बिन चाहे । बलपूर्वक ज्यों अन्य कराये ।
किसके बल से प्रेरित होकर । पाप-आचरण करता है नर ।।३.३६।।

श्रीभगवान बोले –

रज गुण से उत्पन्न है, यही क्रोध, यही काम ।
अग्नि-समान अतृप्त अरि, अधम जान अविराम ।।३.३७।।

ढके आग धूएं से जैसे । दर्पण ढक जाता ज्यों मल से ।
जैसे जेर से गर्भ ढका है । युंही काम से ज्ञान ढका है ।।३.३८।।

हे कौन्तेय, अतृप्त अनल सा । बुद्धजन का नित शत्रु प्रबल सा ।
काम सभी का ज्ञान ढके है । शान्त उसे कर कौन सके है ।।३.३९।।
इन्द्रियां, बुद्धि और इसके मन । हैं आवास, कहें ज्ञानी जन ।
इन से काम ज्ञान को ढक कर । देही को देता मोहित कर ।।३.४०।।
अतः इन्द्रियां वश में, अर्जुन । करो प्रथम, फिर इसका मर्दन ।
चिर पापी, अरि, काम, विनाशी । यह विज्ञान ज्ञान का नाशी ।।

शक्त श्रेष्ठ इन्द्रियां कहते जन । श्रेष्ठ इन्द्रियों से भी है मन ।
मन से अधिक बुद्धि है उत्तम । बुद्धि-परे आत्मा सर्वोत्तम ।।३.४२।।

श्रेष्ठ बुद्धि से आत्मा, अर्जुन । जान, बुद्धि से कर वश में मन ।
दुर्जय कामरूप है दुश्मन । मार महाबाहो, कर मर्दन ।।३.४३।।

इति तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थ अध्याय
ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

श्रीभगवान बोले –

रवि ने मुझसे, सूर्य से मनु ने पाया ज्ञान ।
मनु से फिर इक्ष्वाकु ने, अक्षय योग महान ।।४.०१।।

यूं सब ऋषि-राजर्षि नाना । परम्परा से सब ने जाना ।
काल बहुत है बीता लेकिन । जब से लोप हुआ यह अर्जुन ।
बही योग अब परम पुरातन । मैं ने कहा तुझे है अर्जुन ।
क्योंकि भक्त प्रिय सखा परम मम । और रहस्य योग यह उत्तम ।

अर्जुन बोले –
जन्म आपका अभिनव नूतन । सूर्य-जन्म, प्रभु, परम पुरातन ।
कल्प-आदि में कैसे जानूं ? योग कहा प्रभु ने, क्या मानूं ।।४.०४।।

श्रीभगवान बोले –
अर्जुन, मेरे और तुम्हारे । जन्म हुए हैं कितने सारे ।
तू न जानता उन्हें परंतप । जिनसे मैं पूरा हूं अवगत ।।४.०५।।

जीव-जीव-अज ईश मैं, अविनाशी, निज आत्म
वश में आत्म-प्रकृति किये, माया से लूं जन्म ।।४.०६।।

जब भी कभी धर्म घटता है । औ अधर्म ऊपर चढ़ता है ।
तब तब भरतश्रेष्ठ, हे अर्जुन । लेता हूं अवतार, धार तन ।।४.०७।।
साधु-जनों को त्राण दिलाने । दुष्टजनों का मूल मिटाने ।
पुनः धर्म करने प्रस्थापित । युग युग होता स्वयं उपस्थित ।।४.०८।।

जन्म-कर्म अति दिव्य महत्तम । तत्त्वज्ञान जिसको अर्जुन मम ।
फिर तन त्याग जन्म नहीं लेता, वह मुझको ही है पा लेता ।।४.०९।।

वीतराग, भय-क्रोध-विजेता । मम शरणागत, मम मय चेता ।

अनगिन ज्ञान-तपस से पावन । मम स्वरूप को प्राप्त हुए जन ।।
जैसा जो मुझको भजे, वैसा दूं फल-भोग ।
अनुवर्तन सब दिशि करें, मम पथ में सब लोग ।।४.११।।
कर्म-सिद्धि-फल की ले चाहत । देवगणों की पूजा में रत ।
कर्म-उत्पन्न-सिद्धि वे सत्वर । मनुज लोक में पाते हैं नर ।।४.१२।।
गुण-कर्मों से नियम-विभाजित । चतुर्वर्ण मुझसे ही नियमित ।
कर्ता उनका जान मुझे ही । अविनाशी अनकर्ता मैं ही ।।४.१३।।

फल-कामना न मुझको किंचित । नहीं कर्म-बन्धन से बन्धित ।
जो ऐसे मुझको जानेगा । नहीं कर्म उसको बांधेगा ।।४.१४।।

मोक्षकामी जो पूर्वज जन थे । जान यही सब करें करम थे ।
पुरा काल में पूर्वज जो वर । करते थे, तू कर्म वही कर ।।४.१५।।

कविजन भी सारे भ्रमित, क्या है कर्म अकर्म ।
पाप-मुक्त हो जान जो, कहता हूं वह कर्म ।।४.१६।।
है ज्ञातव्य विकर्म भी, और कर्म ज्ञातव्य ।
ज्ञेय अकर्म-स्वरूप भी, गहन कर्म-गति भव्य ।।४.१७।।

जो अकर्म कर्मों में देखे । कर्मों को अकर्म में देखे ।
योग-युक्त वह ज्ञानी है नर । योगी कर्म रहा सब वह कर ।।४.१८।।

कामहीन, संकल्प-रहित हैं । जिसके सब उद्योग महत हैं ।
ज्ञान-अगन में दग्ध, तिरोहित । निसके कर्म सभी, वह पंडित ।।४.१९।।
आश्रय-हीन तृप्त नित जो है । फल-अभिमान-अमोहित जो है ।
कर्म-प्रवृत्त रहे वह निशिदिन । कर्म न करता कुछ भी, अर्जुन ।।

अन्तःकरण-शरीर-विजेता । परिग्रह-त्यागी, आशा-अचेता ।
मात्र शरीर-कर्म-रत भी वो । नहीं पाप को प्राप्त कभी हो ।।४.२१।।
सिद्धि-असिद्धि समान है, द्वेष-द्वन्द्व से हीन ।
मिले उसी में तृप्त, वह, करते कर्म हो लीन ।।४.२२।।

राग-मुक्त चित ज्ञान-अवस्थित । करे आचरण यज्ञों के हित ।
मुक्त पुरुष वे जो कर जाते । कर्म विलीन सभी हो जाते ।।४.२३।।

ब्रह्म अग्नि है, होतृ है, हवन ब्रह्म है हव्य ।
अर्पण भी है ब्रह्म ही, ब्रह्म ध्येय-गन्तव्य ।।
ब्रह्मरूप-शुचि-कर्म में, समाधिस्थ-अनुरक्त ।
पाता है उस ब्रह्म को निश्चित ही वह भक्त ।।४.२४।।

दैवयज्ञ कर कुछ योगीजन । देव-उपासना-रत हैं निशि दिन ।
कोई फिर ब्रह्माग्नि में ही । हवन यज्ञ करते यज से ही ।।४.२५।।

संयम-अनल-समर्पित कतिपय । होम करें श्रोत्रादिक इन्द्रिय ।
होम अग्नि है कुछ को इन्द्रिय । होम करें शब्दादिक विषय ।।४.२६।।
ज्ञान-प्रदीप्त आत्म संयम की । योग-अग्नि है कहीं हवन की ।
इन्द्रिय-कर्म, प्राण-कृति बुधजन । जिस में हवन करें हैं, अर्जुन ।।

द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ औ, दारुणव्रती अनन्य ।
ज्ञान-योग-स्वाध्याय तप, करते हैं कुछ अन्य ।।४.२८।।

प्राणवायु को अपान में या । प्राणवायु में अपान अथवा ।
दोनों की गति रोक कई जन । प्राणायाम-हवन-रत, अर्जुन ।।४.२९।।

प्राणों में कुछ नियताहारी । हवन करेंगे प्राणों का ही ।
नष्ट पाप जिनके यज्ञों से । ये सब ज्ञानी हैं यज्ञों के ।।४.३०।।

यज्ञामृत-भोगी योगी जन । प्राप्त करेंगे ब्रह्म सनातन ।
यज्ञ-हीन नर को तो सुखकर । नहीं लोक यह, अन्य हो क्योंकर ।।

ऐसे बहुविध यज्ञ हैं अनगिन । वेदों में है जिनका वर्णन ।
कर्म-जात जानो सब को ही । बन्धन-मुक्ति जान यह हो ही ।।४.३२।।
द्रव्य-यज्ञ से, अर्जुन, बढ़कर । ज्ञान यज्ञ है श्रेष्ठ महत्तर ।
पार्थ, परंतप, सब कर्मों की । परिणति ज्ञान-मध्य ही होती ।।४.३३।।
कर प्रणाम, सेवा, जिज्ञासा । शान्त करो तुम ज्ञान-पिपासा ।

तत्त्वदर्शी ज्ञानी ऋषि-मुनिजन । ज्ञान-उपदेश करेंगे, अर्जुन ।।४.३४।।

जान जिसे फिर तुझको, पाण्डव । मोह न भ्रम यह होगा रौरव ।
जिससे सब जीवों को, अर्जुन । आत्मरूप मुझमें हों दर्शन ।।४.३५।।

पापीजनों से भी यदि पापी । तू है, ज्ञान-नाव पा तो भी ।
अमित पाप-जल का यह सागर । पूर्णरूप से जायेगा तर ।।४.३६।।

दीप्त अग्नि जैसे करे, सब ईंधन को भस्म ।
ज्ञानाग्नि वैसे करे, सब कर्मों को भस्म ।।४.३७।।

ज्ञान-समान विश्व में, अर्जुन । है पवित्र कुच्छ और न साधन ।
उचित समय में योगी ज्ञाता । आत्म-अनुभूति को है पाता ।।४.३८।।

जितेन्द्रिय कर्म में तत्पर । श्रद्धावान ज्ञान पाता नर ।
तत्त्वज्ञान जिस क्षण वह पाता । तत्क्षण परम शान्ति पा जाता ।।

श्रद्धा-ज्ञान-विहीन, ससंशय । आत्मा का होता है चिरक्षय ।
लोक न वह परलोक है उसको । और न सुख संशय-आत्मा को ।।

योग-युक्त हो कर्मों का क्षय । कटे ज्ञान से सब ही संशय ।
आत्मज्ञानी उस नर को कोई । कभी कर्म-बन्धन नहीं होई ।।४.४१।।
उस अज्ञान-जनित संशय को । तव उर में बैठा, अर्जुन, जो ।
काट ज्ञान की असि से तत्क्षण । योगावस्थित हो, उठ इस क्षण ।।

इति चतुर्थोऽध्यायः
कर्मसंन्यासयोग

कर्म-संन्यास सराहते, कभी योग को कृष्ण ।
निश्चित हितकर एक जो, मुझे कहो वह कृष्ण ।।५.०१।।

कर्मयोग संन्यास बराबर । दोनों ही हैं अति श्रेयस्कर ।
उन दोनों में भी, अर्जुन । कर्मयोग संन्यास से ऊपर ।।५.०२।।
इच्छा-द्वेष न करता हो जो । उसे सदा संन्यासी समझो ।
राग-द्वेष-द्वन्द्वों से छुटकर । बन्धन-मुक्त सहज होता नर ।।५.०३।।

कर्मयोग-संन्यास-विभाजन । करते मूर्खलोग, नहीं बुधजन ।
इक में भी नर पूर्ण अवस्थित । फल दोनों का पाये निश्चित ।।५.०४।।

जो पद सांख्य-विज्ञ पाते हैं । योगी भी गति वह जाते हैं ।
सांख्य, योग जो एकहि माने । वह नर तत्त्व पूर्ण पहचाने ।।५.०५।।

योग बिना अर्जुन कठिन, पाना है संन्यास ।
योगयुक्त मुनि शीघ्र ही, करे ब्रह्म में वास ।।५.०६।।

योगयुक्त, शुद्धात्मा पावन । जीत लिये जिसने इन्द्रिय-मन ।
सब जीवों में निज सम-दर्शन । कर्म करे, पर लिप्त न वह जन ।।

तत्त्व-विज्ञ योगी यह माने । "कुछ भी किया नहीं मैंने" ।
श्रवण, सूंघना, छूना, दर्शन । भोजन, गमन, शयन, औ वाचन ।।
त्याग-ग्रहण लेना सांसों का । मिंचना खुल जाना आंखों का ।
इन्द्रियां अपने विषयों में रत । कर्म कर रहीं हैं सब अविरत ।।५.०९।।

सभी कर्म कर ब्रह्म-समर्पित । अनासक्त हो कर्म करे नित ।
पाप-लिप्त होता वह नाहीं । जल में कमल-पत्र की नाईं ।।५.१०।।

इन्द्रिय-मन-तन-बुद्धि से, मात्र पूर्ण निष्काम ।
आत्म-शुद्धि के हेतु ही, योगी करते काम ।।५.११।।

कर्म-फलों को तज योगी जन । पाता नैष्टिक शान्ति चिरन्तन ।
कामी जन फल-मोहित हो कर । रहें कामनाओं में बंध कर ।।५.१२।।

करता हुआ न कुछ करवाके । रहता पुर में नौ द्वारों के ।
त्याग सभी कर्मों को मन से । आत्मजयी रहता सुख-धन से ।।५.१३।।

नहीं कर्म, ना ही कर्तापन । जीवों के करता प्रभु प्रणयन ।
नहीं संयोग कर्मफल कामी । करती सब कुछ प्रकृति मां ही ।।५.१४।।

प्रभु नहीं लेता पाप किसी का । और न ले शुभकर्म किसी का ।
ढका ज्ञान माया-आच्छादित । प्राणी सभी इसी से मोहित ।।५.१५।।

हुआ ज्ञान से नष्ट है, जिनका आत्म-अज्ञान ।
द्युतित परम प्रभु को करे, रवि सम उनका ज्ञान ।।५.१६।।

प्रभुमय बुद्धि आत्म मन जिनके । तन्मय एक निष्ठ भगवन के ।
धुला ज्ञान से अघ है जिनका । पुनर्जन्म नहीं होता उनका ।।५.१७।।
ब्राह्मण, गौ, हाथी कुत्तों के । अधम पुरुष चाण्डाल जनों के ।
विद्या-विनय-शील ज्ञानी जन । करते एक भाव से दर्शन ।।५.१८।।

जिनका मन समभाव-अवस्थित । विश्व-विजयी वे नर हों जीवित ।
दोषहीन है ब्रह्म स्वयं सम । ब्रह्मलीन हैं वे इस कारण ।।५.१९।।

प्रिय को पा नहिं होता हर्षित । अप्रिय पा नहिं जो उद्वेलित ।
ब्रह्मज्ञानी दृढ़ बुद्धि-समन्वित । ब्रह्मलीन वह पूर्ण अमोहित ।।५.२०।।

अनासक्त भव-भोग में, मन आनन्द-विभूति ।
ब्रह्मयोगयुत नर करे, अक्षय सुख अनुभूति ।।५.२१।।

इन्द्रिय-जनित भोग ये सब ही । दुख के कारण हैं निश्चय ही ।
आदि-अन्त वाले ये, अर्जुन । रमता कभी न उनमें बुधजन ।।५.२२।।

काम-क्रोध से जनित वेग को । तन-विनाश से पहले ही जो ।
सहने में समर्थ है, वह ही । योगी है जग में सुखमय ही ।।५.२३।।

अन्तः सुखी, आत्म-आवासी । आत्म-ज्योति से पुण्य-प्रभासी ।
ब्रह्मलीन योगी है वह ही । ब्रह्म-मुक्ति-भोगी है वह ही ।।५.२४।।

पापमुक्त संशय से निवृत । मनमें सभी प्राणियों के हित ।
आत्म-संयमी, प्रभु-तन्मय मन । ब्रह्म-मुक्ति पाते वे ऋषि जन ।।५.२५।।

काम-क्रोध से रहित यति, मनस-विजेता आप्त ।

चहु दिशि से आत्मज्ञ को, ब्रह्म-मोक्ष हो प्राप्त ।।५.२६।।

बाह्य भोग सब बाहर तज कर । भ्रकुटि बीच निज दृष्टि नयन कर ।
नाक बीच जो विचरण करते । प्राण-अपान-वायु सम करके ।।
जितेन्द्रिय-मन-बुद्धि विजेता । नहिं भय-इच्छा-क्रोध न चेता ।
मोक्ष-परायण मुनि है जो जन । मुक्त सदा ही है बिन बन्धन ।।

तप-यज-भोगी जान मुझे ही । सब लोकों का देवेश्वर भी ।
सुहृद सभी जीवों का त्राता । जान, शान्ति नर है पा जाता ।

इति पञ्चमोऽध्यायः

ध्यानयोग

श्रीभगवान बोले –

बिना कर्म-फल-चाह जो, कर्म करे करनीय ।
वह योगी संन्यस्त है, नहीं निरग्नि निष्क्रिय ।।६.०१।।

पार्थ, जिसे संन्यास कहा है । वही जान तू योग महा है ।
बिन त्यागे संकल्प यहां पर । होता नहीं कोई योगी नर ।।६.०२।।

योग-साधना सुध्येय जिनका । कर्मयोग साधना मुनि उनका ।
योगारूढ़ हुए जो ऋषिजन । उनका शमन कहा है साधन ।।६.०३।।
इन्द्रिय-भोग-आसक्ति नहीं जब । कर्मों में अनुरक्ति नहीं जब ।
सब संकल्पों का त्यागी जन । योगारूढ़ कहाता उस क्षण ।।६.०४।।

करे मनुष्य उद्धार स्वयं का । पतन न होने दे आत्मन का ।
क्योंकि मित्र अपना खुद ही नर । और शत्रु भी स्वयं भयंकर ।।६.०५।।

आत्मजयी जो जीव है, मित्र स्वयं का आप ।
इन्द्रिय-मन बस में नहीं, शत्रु स्वयं का आप ।।६.०६।।

सुख-दुख-शीत घाम सब ही में । मान और अपमान सभी में ।
प्रशान्त है आत्मजयी जन । ब्रह्मलीन होता उसका मन ।।६.०७।।
ज्ञान-विज्ञान-तृप्त, समत्व-मन । जितेन्द्रिय अविकारी जो जन ।

सम हैं माटी, सोना, पत्थर । ब्रह्म-युक्त योगी है वह नर ।।६.०८।।

मित्र-शत्रु, तटस्थ, उभयजन । साधु-असाधु, स्वजन, द्वेषीमन ।
समता-भाव सभी में पाता । वह अतिश्रेष्ठ मनुज कहलाता ।।६.०९।।
अपरिग्रही अपेक्षा-त्यागी । आत्मजयी चित प्रभु-अनुरागी ।
एकाकी एकान्त अवस्थित । योगी रमे ईश में ही नित ।।६.१०।।

स्वच्छ भूमि पर अवस्थित, कुश, मृगछाला वस्त्र ।
अति ऊंचा नहि निम्न अति, आसन सम सर्वत्र ।।६.११।।
मन को कर एकाग्र अति, कर आसन पर वास ।
आत्मजयी मन-शुद्धि-हित, करे योग-अभ्यास ।।६.१२।।

तन-सिर-गर्दन सीधा करके । निश्चल दृढ़ता धारण करके ।
आंखें नाक-नोक पर रोके । और दिशाओं में न विलोके ।।६.१३।।
ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके । वश में औ अपना मन करके ।
ममय होकर कर मुझ में चित । हो प्रशान्त आत्मा मुझमें नित ।।
योगाभ्यास सतत रत यूं जन । योगी रह संयमित नियत मन ।
मुझमें निहित मोक्षगामी जो । परम शान्ति शुचि पाता है वो ।।६.१५।।
पूर्ण उपवास, बहुत सा भोजन । करके योग-सिद्धि नहिं अर्जुन ।
सिद्धि न उसको अतिशय सोकर । नहीं पूर्णतः जागृत होकर ।।६.१६।।

हों आहार विहार सुनियमित । सब ही कर्म-प्रयास यथोचित ।
सोना जगना संयत हो जब । सिद्ध योग दुख नाशक हो तब ।।६.१७।।

वशीभूत निज चित्त जब, आत्म-लीन हो जाय ।
कामरहित निस्पृही जन, तब योगी कहलाय ।।६.१८।।

वायु-रहित थल में रक्खा ज्यों । दीपक बिल्कुल नहीं हिले त्यों ।
उपमा आत्म-योगी साधक के । विजित मनस की बुधजन देते ।।
योगाभ्यास-निरुद्ध हुआ चित । होता है जब शान्त अपरिमित ।
आत्म-ज्ञान से आत्मा को ही । देख तुष्ट है आत्मा में ही ।।६.२०।।
इन्द्रिय-परे परम सुख है जो । बुद्धि ग्राह्य ही है जो, उसको ।
जब अनुभव करता हो सुस्थित । हो न तत्त्व से फिर वह विचलित ।।
जिसको पाकर उससे बढ़ कर । दिखे न कोई लाभ कहीं पर ।
जिस में होकर पूर्ण अवस्थित । होत न अति दुख से विचलित ।।

जिस में दुख-संयोग नहीं है । संज्ञा जिसकी योग कही है ।
साध्य योग अति ज्ञेय वही है । दत्तचित्त दृढ़ प्रेय वही है ।।६.२३।।

त्याग कामनायें सभी, जो संकल्प प्रसूत ।
सभी इन्द्रियों को तथा, कर मन से वशभूत ।।६.२४।।
धीर बुद्धि से नर बने, धीरे धीरे शान्त ।
चिन्तन और न मन करे, आत्मलीन-विश्रान्त ।।६.२५।।

यह अस्थिर चंचल अपना मन । जिन विषयों में करता विचरन ।
उन-उन से ही इसे हटाकर । आत्मा के आधीन करे नर ।।६.२६।।
जिसका है प्रशान्त पूरा मन । पाप-रहित जिस में न रजो गुण ।
ब्रह्मलीन योगी नर वह ही । पाता परमानन्द सदा ही ।।६.२७।।

यूं ही, पाप रहित योगी जन । आत्मा योग-लीन कर निशिदिन ।
सुख से ब्रह्म-प्राप्ति-रूपी धन । भोगे परमानन्द चिरन्तन ।।६.२८।।

योगमयी आत्मा वाला जो । समदर्शी सर्वत्र सदा हो ।
सब जीवों में निज को देखे । आत्मा में सब जीव विलोके ।।६.२९।।
सब जीवों में देखे मुझको । अरु मुझ में सारे जीवों को ।
हूं अदृश्य न मैं उसके हित । मुझको नहिं अदृश्य वह किंचित ।।६.३०।।
सुस्थित सब जीवों में मुझको । एक-आत्म हो, भजता नर जो ।
सब प्रकार वह जीवन जीकर । रहता है वह मेरे ही भीतर ।।६.३१।।
सब जीवों को पार्थ जो, देखे एक समान ।
सुख-दुख भी सम ही दिखे, योगी श्रेष्ठ महान ।।६.३२।।
अर्जुन बोले –
साम्यभाव से बतलाया जो । प्रभु ने योग मुझे भगवन वो ।
मन की चंचलता के कारन । अस्थिर, अचिर, लगे मधुसूदन ।

चंचल, दुष्ट, हठी, दृढ़ यह मन । है बलवान महा, मधुसूदन ।
कठिन साधना उसको वैसे । हवा बांध लेना है जैसे ।

श्रीभगवान बोले –
निस्संदेह, महाबाहो, मन । चंचल, दुष्कर, जिसका साधन ।
पर अभ्यास विराग से अर्जुन । वश में हो जाता है यह मन ।।६.३५।।
वश में किया न जिसने मन है । उसको मिलना योग कठिन है ।
आत्मजयी साधक लगकर जन । सहज पायेगा, वह मम चिंतन ।।

अर्जुन बोले –
हे हरि, योग-विरत जिनका मन । यत्नहीन, पर श्रद्धामय जन ।
योगसिद्धि मिलती नहीं जिसको । गति कौनसी मिलेगी उसको ।।

ब्रह्मप्राप्ति-पथ से भटका हो । आश्रयहीन, कृष्ण, अटका हो ।
योग-भोग दोनों से वंचित । नष्ट हुआ क्या? ज्यों घन खंडित ।।६.३८।।
जो अमूल मेटे शंका मम । योग्य आप ही, कृष्ण, समुत्तम ।
पूरा जो यह संशय मारे । और कौन, हरि, सिवा तुम्हारे ।।६.३९।।
श्रीभगवान बोले –

नहीं नष्ट इस लोक में, ना ही उस में पार्थ ।
नहीं, तात, दुर्गति किसी, शुभकर्मी के अर्थ ।।६.४०।।

सुरलोकादि पुण्य भू पाकर । योगभ्रष्ट बरसों वहां रहकर ।
शुद्धात्मा श्रीमानों के घर । लेता जन्म पुनः पृथ्वी पर ।।६.४१।।
अथवा ज्ञानवान-योगी-गृह । पुनर्जन्म पाता है नर वह ।
इस प्रकार का जन्म धरा पर । पाना किन्तु पार्थ दुर्लभतर ।।६.४२।।

पूर्व देह-जन्मों का वह नर । संस्कार पाता उस थल पर ।
पार्थ, प्रभाव उसी का पाकर । सिद्धि-प्रयास पुनः करता नर ।।६.४३।।
विवश पूर्व अभ्यास के कारण । आकर्षित होता प्रभु को जन ।
योगेच्छुक वेदों में वर्णित । कर्मफलों को करता लंघित ।।६.४४।।
सिद्धि प्राप्त कर बहु जन्मों से । अभ्यासी योगी यत्नों से ।
पाप-मुक्त अति विशुद्ध होकर । परम मोक्षगति पा जाता नर ।।६.४५।।

विज्ञ-तपस्वी-कर्मरत, जन से योगी श्रेष्ठ ।
योगी बन, हे पार्थ तू, पाण्डव, यही यथेष्ठ ।।६.४६।।

और समस्त योगियों में भी । श्रद्धावान लगा मुझमें जी ।
मुझको अन्तर्मन से भजता । परम श्रेष्ठ वह मुझको लगता ।।६.४७।।

इति षष्ठोऽध्यायः

सातवां अध्याय
ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवान बोले –

मम आश्रित हो योगयुत, मन मुझमें आसक्त ।
सुन, कैसे मुझ पूर्ण को, जानेगा विश्वस्त ।।७.०१।।

सविज्ञान यह ज्ञान बताऊं । तुझको मैं सम्पूर्ण सुनाऊं ।
जगती में पूरा वह पाकर । ज्ञेय न कुछ भी शेष रहे फिर ।।७.०२।।
बिरला कोई सहस्र जनों में । सिद्धि-हेतु लगता यत्नों में ।
यत्नशील उन सिद्धों में भी । जाने मुझे तत्त्वतः कोई ।।७.०३।।

वायु, भूमि, नभ में औ जल में । अहंकार, मन, बुद्धि, अनल में ।
आठ प्रकार प्रकृति यूं मेरी । बंटी हुई है, अर्जुन, पूरी ।।७.०४।।
महाबाहो यह तो 'अपरा' है । जीवरूप दूसरी 'परा' है ।
जान 'परा' वह, जिसके द्वारा । धारण होता है जग सारा ।।७.०५।।

समझ कि सारे दो इन ही से । पैदा होते जीव मही के ।
सारे जग का स्रोत हूं मैं ही । जग-उत्पत्ति-प्रलय भी मैं ही ।।७.०६।।

जान, धनंजय, बात सुनिश्चित । मुझसे परे और नहीं किंचित ।
मोती जैसे सूत्र गुथे हैं । गुथा हुआ सब जग मुझमें है ।।७.०७।।

जल में रस, रवि-चन्द्र में; प्रभा, वेद-ओंकार ।
नभ में मैं ही शब्द हूं, नर में पौरुष-सार ।।७.०८।।
पृथ्वी में शुचि गन्ध महा हूं । बना अग्नि में तेज बसा हूं ।
सभी प्राणियों में जीवन हूं । तपस्वियों में मैं तप-धन हूं ।।७.०९।।

सब जीवों का बीज सनातन । जान मुझे ही तू , हे अर्जुन ।
बुद्धि बुद्धिमानों की मैं हूं । तेजस्वी-गण-तेज भी मैं हूं ।।७.१०।।
बल उनका हूं जो बलधामी । मैं विरागमय अति निष्कामी ।
धर्म-अनुकूल करे हैं जो जन । काम प्राणियों में हूं , अर्जुन ।।७.११।।

भाव सात्विक, राजस, तामस । सब की है मुझसे पैदायश ।
जान कि सब ही गुण हैं मुझ में । किन्तु नहीं मैं, अर्जुन, उन में ॥
इनहीं त्रिगुणों के भावों से । भ्रमित मुग्ध संसार सभी ये ।
परे गुणों से मुझ अक्षर को । नहीं तत्त्वतः जाने है वो ॥७.१३॥

दैवी माया त्रिगुणमय, मम, दुस्तर विस्तार ।
भजें मुझे ही नित्य जो, वे हों इससे पार ॥७.१४॥

माया ने सब ज्ञान लिया हर । आसुर-भाव चढ़ा है जिन पर ।
वे दुष्कर्मी, मूढ़ अधम जन । करते नहीं भजन मम पूजन ॥७.१५॥
ज्ञानी, सुजिज्ञासु, पीड़ित जन । भोग-पदार्थों में जिनका मन ।
चार भांति के शुभकर्मी जन । भजते हैं मुझको, हे अर्जुन ॥७.१६॥

पूर्ण भक्ति मुझ में ही नित रम । ज्ञानी उन में है सर्वोत्तम ।
उस ज्ञानी को मैं अति प्यारा । अतिप्रिय है वह भक्त हमारा ॥७.१७॥
हैं उदार यूं तो सारे ही । ज्ञानी तो पर मम आत्मा ही ।
युक्तात्मा उत्तम गति पा कर । मुझमें ही सुस्थित है वह नर ॥७.१८॥
कई जन्म पा विज्ञ अनन्तर । "वासुदेव ही सब कुछ" कह कर ।
भजता मम करता पूजन है । दुर्लभ महाप्राण वह जन है ॥७.१९॥
निज स्वभाव से प्रेरित होकर । ज्ञान-भ्रष्ट कामेच्छा से नर ।
धारण कर समुचित नियमों को । भजते अन्य देवताओं को ॥७.२०॥

पूजे जिस जिस देव को, श्रद्धा से जो भक्त ।
श्रद्धा उस उस में करूं, उसकी थिर अविभक्त ॥७.२१॥

ओत-प्रोत उस श्रद्धा से जन । निज अभीष्ट का करता पूजन ।
पाता भोग सभी ही वांछित । मेरे द्वारा ही जो अभिहित ॥७.२२॥
मन्द बुद्धि पाते पर जो फल । नाशवान हैं वे, नहिं अविचल ।
देव-भक्त निज देवों में ही – मिलते हैं, मेरे मुझ में ही ॥७.२३॥

शाश्वत परम भाव मम अनुपम । नहीं जानते नर मूरखतम ।
मुझ अव्यक्त निराकारी को । व्यक्तिभाव वाला मानें वो ॥७.२४॥
छिपा योगमाया से ढक कर । मैं न प्रकट होता हूं सब पर ।
अविनाशी, मम जन्म नहीं है । मूरख को यह ज्ञान नहीं है ॥७.२५॥

थे अतीत में, आज हैं, जीव जो आगे होय ।
सब को मैं हूं जानता, जाने मुझे न कोय ।।७.२६।।

राग-द्वेष-उत्पन्न सभी जन । इस सारे संसार में, अर्जुन ।
सुखदुख आदि द्वन्द्व से मोहित । अति अज्ञान-प्राप्त होते नित ।।७.२७।।
पुण्य कर्म से है जिनका पर । पाप विनष्ट हो गया वे नर ।
द्वन्द्व मोह से मुक्त सुदृढ़ मन । करते हैं मेरा नित पूजन ।।७.२८।।

जरा-मरण से छुटने के हित । यत्न करें जो हो मम आश्रित ।
ब्रह्म अध्यात्म पूर्ण जाने हैं । कर्म पूर्णतम पहचाने हैं ।।७.२९।।
जो अधिभूत रूप अधिदैवी । मम अधियज्ञ रूप जो सेवी ।
जाने हैं, वे युक्तात्मा मन । अन्तकाल भी मिलें मुझे जन ।।७.३०।।

इति सप्तमोऽध्यायः

आठवां अध्याय
अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन बोले –

पुरुषोत्तम, अध्यात्म क्या कौन ब्रह्म क्या कर्म?
किसे कहा अधिभूत, क्या अधिदैव कहें मर्म? ॥८.०१॥

कौन, प्रभो, अधियज्ञ यहां है । इस शरीर में रहा कहां है?
अन्त काल तुमको मधुसूदन । कैसे जाने नियतात्मा जन ॥८.०२॥

श्रीभगवान बोले –

ब्रह्म नाम चिर अविनाशी का । है अध्यात्म स्वभाव उसी का ।
जीव-भाव पैदा करता जो । सर्जन-शक्ति कर्म ही है वो ॥८.०३॥

है अधिभूत भाव जो नश्वर । अधिदैव चैतन्य पुरुष वर ।
इस तन में मैं ही मधुसूदन । हूं अधियज्ञ, नरोत्तम अर्जुन ॥८.०४॥
अन्तकाल कर याद मुझे ही । त्यागेगा शरीर जो देही ।
वह मम-भाव प्राप्त होगा ही । इस में कुछ भी संशय नाही ॥८.०५॥
अन्त काल जो भाव लिये मन । करता याद, त्यागता है तन ।
उसी भाव का चिन्तन करता – सदा, प्राप्त वह ही जन करता ॥

इसीलिये सब समय निरन्तर । याद मुझे कर और समर कर ।
मुझमें बुद्धि-मनस से अर्पित । मुझे मिले, संशय नहिं किंचित ॥८.०७॥

जो अभ्यासयोग से संचित । कहीं और नहिं है जिसका चित ।
चिन्तन, पार्थ, उसीका करता । प्राप्त दिव्य प्रभु को है करता ॥

सर्वज्ञ कवि सबका नियन्ता जो अनादि अनन्त है,
परमाणु सम अणुओं में है जो पूर्णरूप अचिन्त्य है ।
जग पालता है पोसता, आदित्य सम तम से परे,
उस सर्वव्यापी नित्य का जो भक्त नित चिन्तन करे ॥८.०९॥
वह भक्तिभाव भरा पुरुष निज मृत्यु को ऐसा वरे,
निज योग बल से प्राण को भौहों में सुस्थापित करे ।

निश्चल मनस से दिव्यतम प्रभु रूप का चिन्तन करे,
उस परम प्रभु को प्राप्त निश्चित पूर्णतः वह जन करे ॥८.१०॥

जिसको सभी वेदज्ञ अविनाशी चिरन्तन नित कहें,
शुचि वीतरागी यत्न-साधक पा सदा जिसमें रहें ।
पालन करें ब्रह्मचर्य व्रत, जिसकी हृदय इच्छा लिये,
वह परम पद संक्षेप में कहता हूं मैं तेरे लिये ॥८.११॥

इन्द्रिय-द्वार सभी संयम कर । हृदय-मध्य निश्चल निज मन कर ।
मस्तक में कर प्राण अवस्थित । योग-धारणा में हो सुस्थित ॥८.१२॥
एक अक्षरी ओम् उच्चारे । ब्रह्मरूप मुझको मन धारे ।
त्यागे देह धार यह सुस्थित । पाता है वह पुरुष परम गति ॥८.१३॥

जो अनन्य मन से हे अर्जुन । सदा मुझे भजता है निशिदिन ।
मुझमें रमा नित्य योगी जो । पार्थ, सुलभ अति ही मैं उसको ॥८.१४॥

परमसिद्धि को प्राप्त हुए नर । महापुरुष वे मुझको पाकर ।
क्षणभंगुर अति पीड़ा का घर । पुनर्जन्म नहिं पाते हैं फिर ॥८.१५॥

ब्रह्मलोक तक लोक सभी ही । पुनः पुनः पा, आने को ही ।
पर, कौन्तेय, मुझे पाने पर । पुनर्जन्म नहिं लेता है नर ॥८.१६॥

एक सहस्र युग हैं जो जन को । एक दिवस है वह ब्रह्मन को ।
रात सहस्र युग भी जो जाने । रात्रि-दिवस-गति वे जन जानें ॥८.१७॥

ब्रह्म-दिवस शुरु है जब होता । जग पैदा अव्यक्त से होता ।
रात्रि-समय अव्यक्त वही है । जिसमें सृष्टि विलीन हुई है ॥८.१८॥

विवश जीव-समुदाय यह, हो हो कर हर बार ।
लय होता विधि-रात्रि में, जीवन दिन में धार ॥८.१९॥

उस अव्यक्त-परे भी अर्जुन । जो अव्यक्त है भाव सनातन ।
जीव-जगत का क्षय जब होता । तब भी नष्ट न है वह होता ॥८.२०॥

कहा गया जो अव्यक्त अक्षर । कहते उसे परम गति हैं नर ।
पुनर्जन्म नहिं जिस को पाकर । परमधाम वह ही मेरा घर ॥८.२१॥
सभी जीव हैं जिस के भीतर । जिस से है परिपूर्ण जगत भर ।
परम पुरुष वह प्राप्त उसी को । भक्ति अनन्य सदा करता जो ॥

काल-मार्ग जिस में योगी नर । त्याग शरीर न आते हैं फिर ।
पुनर्जन्म-गति या देता जो । भरतश्रेष्ठ, कहता दोनों को ॥८.२३॥
दिवस, अग्नि, पख शुक्ल, प्रभासी । उत्तरायण औ जो षणमासी ।
त्यागेंगे उस काल में जो तन । पायें ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानी जन ॥८.२४॥

धूम्र, रात्रि, पख कृष्ण उदासी । दक्षिणायण औ जो षणमासी ।
उस में प्राण त्याग योगी नर । चन्द्र लोक पा, लौटें भू पर ॥८.२५॥
शुक्ल-कृष्ण दो मार्ग सनातन । जग के माने जाते, अर्जुन ।
इक वृतहीन मुक्ति है देता । गमनागमन दूसरा देता ॥८.२६॥

पार्थ, मार्ग दोनों जाने जो । योगी कभी भ्रमित नहिं वह हो ।
अतः सभी कालों में, अर्जुन । योग-युक्त योगी ही तू बन ॥८.२७॥

जो पुण्य फल, कहते, मिलेंगे योग, तप, यज्ञ, दान से,
योगी पुरुष सब युक्त होकर तत्त्वतः इस ज्ञान से ।
है छोड़ता, करके उलंघन पार जा उन से परे,
उपलब्धि शाश्वत सनातन पद परम की निश्चित करे ॥८.२८॥

इति अष्टमोऽध्यायः
राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवान बोले –

अनघ दृष्टि तुझको कहूं, गूढ़ ज्ञान-विज्ञान ।
अशुभ जगत से मुक्त हो, जायेगा जो जान ॥९.०१॥

विद्याओं में नृप यह राजन । परम गुप्त, उत्तम, अति पावन ।
देता फल प्रत्यक्ष, धरममय । सुखद, सहज, अविनाशी, अक्षय ॥

श्रद्धा नहिं इस धर्म में जिन की । मैं उपलब्धि नहीं हूं उन की ।

मृत्यु-लोक के चक्र में फंस कर । अर्जुन, करते भ्रमण निरन्तर ॥

मुझ अव्यक्त रूप से, धनुवर । विस्तृत है परिपूर्ण जगत भर ।
सभी जीव मुझ में आधारित । मैं उन में हूं नहीं अवस्थित ॥९.०४॥
नहीं जीव वे मुझ में सुस्थित । योग-प्रभाव देख मम निश्चित ।
जीव उत्पन्न करूं मैं पोषित । मम आत्मा उन में न अवस्थित ॥९.०५॥

ज्यों सर्वत्र विचरने वाला । वायु सदा नभ रहने वाला ।
मुझमें सभी जीव हैं वैसे । जान अवस्थित अर्जुन ऐसे ॥९.०६॥

सभी जीव कल्पान्त में अर्जुन । प्रकृति-मध्य मम होंय विसर्जन ।
कल्प दूसरा जब फिर आता । रचना उनकीं फिर कर जाता ॥९.०७॥
मायामय निज प्रकृति ग्रहण कर । जीवों का समुदाय जगत भर ।
निज स्वभाव-वश बेबस सब जन । रचता बार बार मैं, अर्जुन ॥९.०८॥
उदासीन आसक्ति-रहित हूं । उन कर्मों में यूं सुस्थित हूं ।
इसीलिये मुझको हे अर्जुन । कभी न हो कर्मों का बन्धन ॥९.०९॥

अर्जुन, मम अधिकार में, प्रकृति चराचर-धाम ।
रचती है, जो घूमता, इसी हेतु अविराम ॥९.१०॥

सब जीवों का महा महेश्वर । परम भाव मम यह मूरख नर ।
नहीं जानते नर-तन-धारी । करें अनादर मेरा भारी ॥९.११॥
वृथा-ज्ञान, आशा कर्मों से । लिप्त सदा अज्ञानी जन ये ।
राक्षस-असुर-प्रकृति को धारे । रहते हैं मोह के वश सारे ॥९.१२॥

दैवी-प्रकृति-अधीन महामन । जानें सभी जीवों का कारन ।
पार्थ, जानकर अव्यय अक्षर । अनन्य मन से भजें निरन्तर ॥९.१३॥

नित्य दृढ़व्रत साधक बुधजन । यत्नशील मम करते कीर्तन ।
मुझमें रम प्रणाम नित करते । भक्तिभाव से मुझको भजते ॥९.१४॥
द्वैत भाव, अद्वैत किसी का । ज्ञान-यज्ञ-पथ महत किसी का ।
भांति-भांति और बहुत जन । मुझ विराट का करते वन्दन ॥९.१५॥
श्रौत कर्म यज्ञों का मैं ही । पिंडदान पितरों का मैं ही ।

औषधि, मंत्र, अग्नि, घृत, आहुति । मैं ही अर्जुन, होम-यजन-कृति ॥
जगत-पितामह, पितु औ माता । धारण कर्ता, पोषण-दाता ।
ज्ञेय पूत ओंकार स्वयं मैं । यजुर्वेद ऋक् साम स्वयं मैं ॥९.१७॥

सद्गति सबकी, पोषक, स्वामी । वास, शरण, साक्षी, हितकामी ।
मैं उत्पति-प्रलय-अवलम्बन । मैं निधान, बीजाक्षर, अर्जुन ॥९.१८॥

बरसाता, जल रोकता, तपता, अर्जुन, आप ।
अमृत मैं हूं, मृत्यु मैं, असत् और सत् आप ॥९.१९॥

कर्म करते हैं तीनों वेदों के विधान से,
पूत पाप-मुक्त सुखी सोमरस पान से ।
यज्ञ द्वारा मुझे पूजते हैं इष्ट जानकर,
प्रार्थना करें जो स्वर्ग लक्ष्य निज मानकर ।
पुण्यफल से वे इन्द्र-लोक प्राप्त करके,
भोगते हैं भोग सभी दिव्य सुरपुर के ॥९.२०॥

वे विशाल दिव्य स्वर्ग लोक को हैं भोगते,
पुण्य क्षीण होते, मृत्यु लोक को ही लौटते ।

तीनों वेदों के जो लगे हैं ऐसे धर्मयोग में,
आवागमन कामियों को है मिला फल भोग में ॥९.२१॥

भक्ति अनन्य भाव से जो जन । करते हुए सतत मम चिन्तन ।
मुझमें रमे भजन मम गाते । योगक्षेम सब मुझसे पाते ॥९.२२॥

श्रद्धाहीन भक्तिमय जो जन । करें अन्य देवों का पूजन ।
करते वे भी मम ही वंदन । विधि-विहीन यद्यपि वह, अर्जुन ॥९.२३॥
भोक्ता सब यज्ञों का मैं ही । स्वामी भी लोकों का मैं ही ।
तत्त्वज्ञान से जान न पाते – मुझको, यूं ही वे गिर जाते ॥९.२४॥
देव-भक्त सुर भू को पाते । पितर-भक्त पितरों को जाते ।
भूत-भक्त भूतों को पायें । मेरे भक्त मुझे ही आयें ॥९.२५॥
पत्र-पुष्प-फल-जल जो भी जन । भक्तिभाव से करता अर्पन ।

शुद्ध बुद्धि से जो पाता हूं । दिया भक्ति से, मैं खाता हूं ।।९.२६।।

अर्जुन, कर्म करे है तू जो । खान पान और दान हवन को ।
यज्ञ तपस्या करता जो नित । कर वह सब मुझको ही अर्पित ।।
यूं संन्यासी-आत्मा योगी । मुक्ति कर्म-बन्धन से होगी ।
अच्छे-बुरे न फल पायेगा । हो विमुक्त मुझमें आयेगा ।।९.२८।।

सब जीवों में व्याप्त हूं, रहकर एक समान,
प्रिय मेरा कोई नहीं, ना ही अप्रिय जान ।
भक्ति-भाव से तदपि जो, भजते मुझको भक्त,
वे मुझ में हैं और मैं, भी उन में हूं व्यक्त ।।९.२९।।

पापी दुष्ट अधम नर भी जो । पूर्ण भक्ति से पूजे मुझको ।
साधु मानने योग्य, धनंजय । उचित अर्थमय उनका निश्चय ।।९.३०।।
वह धर्मात्मा शीघ्र हो जाता । शाश्वत शान्ति, पार्थ, पा जाता ।
जान सत्य, यह ज्ञान सही ओ । मेरा भक्त न नष्ट कभी हो ।।९.३१।।

नारी, वैश्य, शूद्र या दुर्जन । याकि अन्य कोई पापी जन ।
मम शरणागत जो हो जाते । परम मोक्ष गति को वे पाते ।।९.३२।।

राज-ऋषि, द्विज, पुण्यात्मा या । भक्तों की तो बात ही फिर क्या ।
कष्टपूर्ण नश्वर जग पाकर । भजन मात्र मेरा ही तू कर ।।९.३३।।

मुझमें तन-मन-भक्ति रमा कर । भक्त प्रणाम मुझे वन्दन कर ।
हो एकात्म मुझी में आश्रित । मुझे प्राप्त होगा तू निश्चित ।।९.३४।।

इति नवमोऽध्यायः

दसवां अध्याय
विभूतियोग

श्रीभगवान बोले –

परम पुण्यमय मम वचन, महाबाहु, सुन और ।
तव हित को ही कहत हूं, प्रीति-पात्र तू मोर ॥१०.०१॥

पता न सुरगण महर्षियों को । मेरा प्रादुर्भाव किसी को ।
सभी देवता महर्षियों का । आदि मूल हूं मैं सब ही का ॥१०.०२॥
अज, अनादि मुझको जो जाने । विश्व-महेश्वर कर पहचाने ।
सब लोगों में ज्ञानी वह जन । पाप मुक्त होता पावन मन ॥१०.०३॥
बुद्धि-ज्ञान, निर्भ्रमता, सच, दम । क्षमा-दया, सुख-दुख, मन का शम ।
भय और अभय, प्रलय-उत्पत्ति । समता, दान, अहिंसा तृप्ति ।
तप, यश-अपयश भाव सभी ही । जीव-जीव में करता मैं ही ॥

सप्त महर्षि, चार पुरातन । स्वायंभुव-सम चौदह मनुजन ।
मेरे मानस से पैदा सब । जिनकी प्रजा लोक भर में अब ॥१०.०६॥

योगशक्ति औ मम विभूति को । पूर्ण तत्त्व से जाने है जो ।
योगयुक्त होता अविचल चित । संशय इस में कहीं न किंचित ॥
सब जग का उद्भव हूं मैं ही । जग-विकास-प्रेरक हूं मैं ही ।
मान यही, श्रद्धामय बुद्धजन । निशिदिन करते मेरा पूजन ॥१०.०८॥

प्राण चित्त सुस्थित मुझमें कर । मेरा जान प्रभाव, परस्पर –
करते कथन, तृप्त अति होकर । रमते मुझमें नित्य निरन्तर ॥१०.०९॥
मुझमें सतत लगाकर जो मन । भजते प्रीति सहित हैं जो जन ।
उनको ज्ञानयोग वह देता । जिससे जन मुझको पा लेता ॥१०.१०॥

उनमें हो हृदयस्थ मैं, होकर स्वयं दयाल ।
नष्ट करूं अज्ञान-तम, ज्ञान-दीप-द्युति बाल ॥१०.११॥

अर्जुन बोले –
सार्वभौम, प्रभु, धाम परम हो । परम ब्रह्म, शुचि नाम परम हो ।

दिव्य पुरुष, अविनाशी, अजन्मा । शाश्वत आदि देव, भव कर्मा ॥
प्रभु कहते ऋषिजन सब ऐसे । देवल व्यास असित नारद से ।
सभी देवता ऋषि हैं कहते । स्वयं आप भी मुझसे कहते ॥

किया आपने जो कुछ वर्णन – मुझसे, सत्य मानता, भगवन ।
जो व्यक्तित्व आप का केशव । नहीं जानते सुर या दानव ॥१०.१४॥
जीवों के सृष्टा, प्रभु हो तुम । देवदेव जगदीश नरोत्तम ।
स्वयं स्वयं को अपने से ही । आप जानते, पुरुषोत्तम, ही ॥
अपनी दिव्य विभूति सभी ही । कह सकते हैं आप स्वयं ही ।
जिन विभूतियों से हो भूषित । सब लोकों में व्याप्त अवस्थित ॥

चिन्तन करता हुआ निरन्तर । जानूं मैं कैसे, योगेश्वर ।
मैं किन किन भावों के द्वारा । भगवन, चिन्तन करूं तुम्हारा ॥१०.१७॥
योग-विभूति स्वयं फिर भगवन । कहें मुझे, कर विस्तृत वर्णन ।
वचन आपके पुण्य सुधा वर । तृप्ति नहीं होती सुन सुन कर ॥

श्रीभगवान बोले –

मेरी दिव्य विभूतियां, अति विस्तृत निश्शेष ।
मैं अब कहता हूं तुम्हें, जो उनमें सुविशेष ॥१०.१९॥

जीव-जीव के हृदय बसा हूं । सब जीवों की मैं आत्मा हूं ।
आदि, मध्य और अन्त सभी ही । सबका गुडाकेश हूं मैं ही ॥१०.२०॥
आदित्यों में विष्णु महा हूं । दिनकर द्युतियों मध्य रहा हूं ।
मरुतों में हूं मरीचि अनुपम । नक्षत्रों में शशि सर्वोत्तम ॥१०.२१॥
सामवेद हूं मैं वेदों में । वासव इन्द्र और देवों में ।
मन मैं, सभी इन्द्रियों में हूं । शक्ति चेतना जीवों में हूं ॥१०.२२॥
रुद्रगणों में हूं शिवशंकर । यक्ष-राक्षसों में वित्तेश्वर ।
अग्नि स्वयं मैं सब वसुओं में । हूं सुमेरु मैं गिरि शिखरों में ॥१०.२३॥

मुख्य पुरोहित गण में मानो । पार्थ, बृहस्पति मुझको जानो ।
वीरस्कन्द सैन्यपति गण वर । जलाशयों में मैं हूं सागर ॥१०.२४॥
महर्षियों में भृगु अनुपम हूं । वचनों में 'ओंकार' परम हूं ।
यज्ञों में जपयज्ञ महत्तम । स्थावरों में हिमगिरि उत्तम ॥१०.२५॥

पीपल हूं मैं सब वृक्षों में । नारद मुनि हूं महर्षियों में ।
और चित्ररथ गन्धर्वों में । कपिल देवमुनि मैं सिद्धों में ॥१०.२६॥
अमृत-मंथन से पैदा जो । घोड़ों में उच्चैःश्रवा वो ।
मैं ऐरावत गजगण में हूं । जान, नृपति नरगण में हूं ॥१०.२७॥

शस्त्रों में हूं वज्र मैं, कामधेनु गौ मध्य ।
कामदेव सन्तान हित, वासुकि सर्पों मध्य ॥१०.२८॥

शेषनाग मैं नागों में हूं । मैं यमराज शासकों में हूं ।
वरुण जलचरों में हूं ईश्वर । पितरों में अर्यमा पितेश्वर ॥१०.२९॥
दैत्यों में प्रह्लाद महा हूं । संगणको में काल सदा हूं ।
पशुओं में मैं सिंह मृगेश्वर । गरुड़ पक्षियों में खगेश्वर ॥१०.३०॥
पवन हूं पावन-कर्ताओं में । स्वयं राम हूं शस्त्रधरों में ।
मत्स्यों में मैं मच्छमगर हूं । नदियों में गंगा शुचिकर हूं ॥१०.३१॥

आदि-मध्य सब सर्गों का क्षय । अर्जुन, मैं ही हूं , यह निश्चय ।
ब्रह्मज्ञान मैं विद्याओं में । वाद-तर्क शास्त्रार्थ विदों में ॥१०.३२॥

आदि अकार अक्षरों में हूं । द्वन्द्व समास समासों में हूं ।
अक्षय काल, विराट मुखी मैं । सबका हूं पालक पोषी मैं ॥१०.३३॥

मृत्यु काल सबका नाशक हूं । भावी जनों का उत्पादक हूं ।
वाक्, मेधा, श्री, कीर्ति, सुस्मृति । क्षमा नारियों में मैं ही धृति ॥
बृहत्साम मैं सामों में हूं । गायत्री मैं छन्दों में हूं ।
मार्गशीर्ष हूं सब मासों में । हूं वसन्त मैं सब ऋतुओं में ॥१०.३५॥
छलियों में मैं, पार्थ, जुआ हूं । तेजस्वियों में तेज महा हूं ।
विजय और व्यवसाय स्वयं हूं । सात्त्विक जन का सत्त्व परम हूं ॥

वृष्णिगणों में कृष्ण मैं, पाण्डवगण में पार्थ ।
मुनियों में हूं व्यास मैं, कविगण-शुक्र यथार्थ ॥१०.३७॥

दमनशील का दण्ड स्वयं हूं । विजयेच्छुक का नीति-नियम हूं ।
मौन गुह्यभावों का मैं हूं । तत्त्वज्ञान विज्ञों का मैं हूं ॥१०.३८॥

सब जीवों का यूं मैं, अर्जुन । मूल-बीज, कारण, उत्पादन ।
चर औ अचर जीव, हे अर्जुन । नहिं होता कोई मेरे बिन ॥१०.३९॥

दिव्य विभूति-गणों का, अर्जुन । कोई अन्त नहीं है, यह सुन ।
वे विभूतियां अपनी विस्तृत । की संक्षेप रूप में वर्णित ॥१०.४०॥

जो विभूतिमय जगत में, शक्ति-कान्ति सम्पन्न ।
मेरे ही तेजांश से, जान उसे उत्पन्न ॥१०.४१॥
क्या होगा बहुज्ञान से, अर्जुन, यह पर्याप्त ।
एक अंश धारण किये, सब जग को हूं व्याप्त ॥१०.४२॥

ग्यारहवां अध्याय
विराट्रूपदर्शनयोग

अर्जुन बोले –

परम गुह्य अध्यात्म का, दे उपदेश महान ।
हो कृपालु, मेटा सभी, मेरा मोह-अज्ञान ॥११.०१॥

जीव-जन्म-उत्पत्ति-मरण-लय । महत्त्व तव अविनाशी अक्षय ।
सविस्तार मैं ने हे भगवन । पूर्ण सुना है पंकज-लोचन ॥११.०२॥

आप स्वयं को कहते जैसे । पुरुषोत्तम, सच ही हो वैसे ।
किन्तु चाहता मैं यदुनन्दन । उस ऐश्वर्य-रूप का दर्शन ॥११.०३॥
उस विराट छवि का दिग्दर्शन । यदि सम्भव माने प्रभु का मन ।
तो अविनाशी रूप मनाहेर । अपना दिखलायें, योगेश्वर ॥११.०४॥

श्रीभगवान बोले –
नाना वर्णाकृति वाले मम । दिव्यरूप नाना विध उत्तम ।
शत-शत सहस्र भांति के, अर्जुन । रूपों का अब तू कर दर्शन ॥
आदित्यों को, सब वसुओं को । अश्विनी सुत दोनों रुद्रों को ।
देख मरुत सब अचरजमय ले । कभी नहीं देखे जो पहले ॥११.०६॥

मम देह में एकत्र चर, अचर जीव, पद, अर्थ ।
देख सभी जगत और भी, जो हो इच्छा, पार्थ ॥११.०७॥

पर इन निज नयनों से, अर्जुन । कर न सकोगे मेरे दर्शन ।
दिव्य चक्षु देता हूं तुम को । देखो योग ऐश्वर्य परम को ॥११.०८॥

इस प्रकार से कह कर, राजन । महायोगेश्वर हरि ने उस क्षन ।
अर्जुन को फैला निज माया । परम ऐश्वर्य-रूप दिखलाया ॥११.०९॥
मुख अनेक अति दिव्य नयन औ । अद्भुत रूप भव्य अनगिन औ ।
भूषण दिव्य अनेक विभूषित । दिव्य अनेक शस्त्र से सज्जित ॥
दिव्य माल-पट-सन सुसज्जित । दिव्य गन्ध-लेपों से मंडित ।
वह असीम आश्चर्य भरा सब । रूप विराट देव देखा तब ॥

नभ में एक हजार सूरज भी । उगें एक ही साथ न तब भी ।
उन सब की भी ज्योति कदाचित । विश्व-रूप-छवि-सम हो किंचित ॥

भांति-भांति से पृथक विभाजित । सारा जगत हुआ एकत्रित ।
देव-देव-तन में इक थल सब । पाण्डु पुत्र ने देखा था सब ॥११.१३॥

रोमांचित, अचरज-चकित, नत-मस्तक, करबद्ध ।
कर प्रणाम श्रीदेव को, अर्जुन बोला शब्द ॥११.१४॥

अर्जुन बोले –

मैं देख रहा हूं देव, आप के तन में,
सब जीवों के समुदाय, देवता सारे ।
बैठे पद्मासन पर ब्रह्मा को, शिव को,
ऋषिगण सब, दैवी सर्प कुण्डली मारे ॥११.१५॥
अनगिन हैं प्रभु के उदर, नयन, मुखमंडल,
सब ओर अनन्त रूप वाले, विश्वेश्वर ।
हे विश्वरूप, तव आदि अन्त नहिं दिखता,
मैं देख न पाता मध्य, परम परमेश्वर ॥११.१६॥

प्रभु मुकुट-गदायुत, चक्र-सुशोभित दिखते,
सब ओर दीप्तिमय, तेजपुंज, हे भगवन ।
ज्वाला-रवि-सम द्युतिमान, नयन क्या देखें?
सब दिशि से करता हूं असीम के दर्शन ॥११.१७॥
हैं आप जानने योग्य परम अक्षर, प्रभु,
आश्रित जिस प्रभु पर यह सब विश्व जगत है ।
हैं धर्म सनातन के रक्षक अविनाशी,
हैं परम सनातन पुरुष, यही मम मत है ॥११.१८॥

नहिं आदि, मध्य औ अन्त, महाबलशाली,
शशि सूर्य नेत्रवाले, ज्वाला-मुख रौरव ।
अनगिन हैं प्रभु के हाथ, तेज से अपने,
मैं देख रहा आपको तपाते यह भव ॥११.१९॥
द्यावा-पृथ्वी के मध्य दिशायें सारी,

हैं मात्र आपसे व्याप्त, महात्मन प्रभुवर ।
यह उग्ररूप आपका देखकर अद्भुत,
सब लोक व्याप्त हैं, कांप रहे हैं थरथर ॥११.२०॥
सब देवों का समुदाय जा रहा प्रभु में,
भयभीत कई करबद्ध कर रहे कीर्तन ।
सब 'स्वस्ति-स्वस्ति' कह सिद्ध महर्षिगण हो,
उत्तम स्तोत्रों से करें आपका वंदन ॥११.२१॥

सब रुद्र, साध्य, आदित्य, सिद्ध, अश्विनी द्वय,
वसु, मरुत, यक्ष, गन्धर्व, पितर औ सारे ।
सब असुरों के समुदाय देखते प्रभु को,
विस्मित हो कर अति, नेत्र फाड़ कर सारे ॥११.२२॥

हे महाबाहो, तव बहु मुख, बहु कर, बहु पग,
बहु नयन, उदर बहु-रूप देख जग सब ही ।

विकराल जबाड़ों-जंघाओं वाले को,
व्याकुल हैं अतिशय और व्यथित हूं मैं भी ॥११.२३॥
नभ को छूते अति दीप्त रूप बहुरंगी,
व्यापक-मुख, दीप्त-विशाल-नयन, औ भगवन ।
है देख आपको व्यथित आत्मा वाला,
मैं धैर्य-हीन हूं ; है अशान्त मेरा मन ॥११.२४॥
विकराल डाढ़ वाले तव मुख को लख कर,
जो धधक रहा कालाग्नि-समान महा है ।
देवेश, जगत-आधार प्रमुद हों मुझ पर,
सुख मुझे न दिशि का कोई ज्ञान रहा है ॥११.२५॥
ये सब धृतराष्ट्र-तनय, नृपदल सारे ही,
ये कर्ण,भीष्म औ द्रोण, सभी ये कौरव ।
यौद्धा प्रधान अपने भी दल के सारे,
है निगल रहा सब को ही मुख तव रौरव ॥११.२६॥

विकराल जबाड़ों वाले तव मुखदल में,

कितने ही हैं प्रवेश करते द्रुतगति से ।

सिर सहित चूर्ण कुछ हुए आपके भगवन्,
दांतो के बीच फसे मुझको हैं दिखते ॥११.२७॥
जैसे नदियों के जल-प्रवाह बहुतेरे,
सागर दिशि को ही स्वभावतः जाते हैं ।
वैसे ही वीर्यवान शूरों के दल ये,
आपके धधकते मुखदल में आते हैं ॥११.२८॥
प्रज्जवलित शिखा की ओर नष्ट होने को,
अति वेग पूर्ण दौड़े पतंग जाते हैं ।
वैसे ही ये सब लोग नष्ट होने को,
आपके मुखों में दौड़-दौड़ आते हैं ॥११.२९॥

प्रज्जवलित मुखों का अपने ग्रास बना कर,
हैं चाट रहे सब लोक आप, हे भगवन –
सब ओर चाव से, तपा रही सारा जग,
आपकी उग्र द्युति भरे तेज से त्रिभुवन ॥११.३०॥
करता प्रणाम मैं, देवश्रेष्ठ, खुश होवें,
हैं उग्ररूप प्रभु कौन आप, बतलायें ।
मैं, आदिरूप आप का जानना चाहता,
अनभिज्ञ दिव्य तव कृति से हूं, समझायें ॥११.३१॥

श्रीभगवान बोले –
मैं उग्ररूप महकाल लोक नाशक हूं,
इस समय मारने इन लोगों को आया ।
हैं शत्रुपक्ष में ये जो भी यौद्धागण,
तुझ बिन भी जीवित रहे न उनकी काया ॥११.३२॥
इसलिये खड़ा हो तू यश को पाने को,
तू भोग राज-समृद्धि विजय पा अरि पर ।
ये सब पहले ही मरे हुए हैं मुझसे,
हे सव्यसाचि, तू हो जा मात्र निमित भर ॥११.३३॥
सब द्रोण, भीष्म, जयद्रथ औ कर्ण महारथ,

औ अन्य बहुत से मृत हैं मरे द्वारा ।
इसलिये युद्ध कर, मार शूरवीरों को,
रण में जीतेगा शत्रु, न हो भय-मारा ॥११.३४॥

संजय बोले –

सुनकर केशव के वचन मुकुटधारी वह,
करबद्ध कांपता अर्जुन नमस्कार कर ।
भयभीत और भी फिर प्रणाम कर हरि को,
बोला विनीत वाणी से गद्‌गद् हो कर ॥११.३५॥

अर्जुन बोले –

हे हृषीकेश, यह उचित सर्वथा ही है,
जग हर्षित अनुरागी है तव वन्दन कर ।
करते प्रणाम हैं सभी सिद्धगण, राक्षस –
भागते दिशाओं में प्रभु से डर कर ॥११.३६॥
कैसे न आपको करें प्रणाम महात्मन,
हैं ब्रह्मा के भी श्रेष्ठ आदिकर्ता वर ।
देवेश, जगत-आवास, यहां जो भी है,
सत्-असत् परे उनसे भी प्रभु ही अक्षर ॥११.३७॥
हैं आदि पुरातन आप स्वयं ही भगवन,
हैं आदिदेव आधार परम जगती के ।
हे अनन्त छवि, हैं ज्ञेय आप ज्ञानी भी,
हैं परमधाम, प्रभु, विश्व व्याप्त है जिससे ॥११.३८॥

हैं वायु, अग्नि, यमराज, वरूण, शशि, प्रभुवर,
हैं प्रजा-ईश, ब्रह्मा औ पितामह उनके ।
है बारम्बार प्रणाम कोटिशः प्रभु को,
औ नमस्कार हर बार ईश त्रिभुवन के ॥११.३९॥
हे अनन्त प्रभुता-पुंज, नमन आगे से,
पीछे से प्रभु को नमन, परम सर्वात्मन ।
जो सर्वरूप हैं विश्व-व्याप्त होने से,
हर दिशि से प्रभु को नमन अमित विक्रमधन ॥११.४०॥

निज सखा मान कर मैं ने, हे प्रभु, अपना,
प्रभु-महिमा से अनभिज्ञ, प्रेमवश अथवा ।
या यह प्रमाद था हठ मेरा, जो मैं ने,
हे कृष्ण, हे सखे, कहा कि हे यादव या ॥११.४१॥
अथवा हे अच्युत, हास-भाव से मैं ने,
आसन-विहार-शैया या भोजन-थल पर ।
एकाकी अथवा मित्रगणों के सम्मुख,
अपमानित प्रभु है किया, अचिन्त्य, क्षमा कर ॥११.४२॥
हैं पिता चराचर जग के, गुरु गुरुतर से,
अति पूज्य आप हैं, प्रभाव तव अनुपम वर ।
तीनों लोकों में आप समान कहीं भी,
है और न कोई, कहां भला फिर गुरुतर ॥११.४३॥
काया चरणों में रख, प्रणाम कर करता,
सुस्तुत्य ईश, वन्दन प्रसन्न होने को ।
ज्यों पिता पुत्र को, मित्र मित्र को पति औ,
पत्नी को देता क्षमा, देव, दें मुझको ॥११.४४॥

पहले जो देखी नहीं, देख उस छवि को,
मैं हर्षित हूं, पर भय से अति व्याकुल मन ।
हे देव परम देवेश, जगत के आश्रय,
होकर प्रसन्न दें पूर्व-रूप में दर्शन ॥११.४५॥
सिर-मुकुट, गदामय चक्र हाथ में शोभित,
मैं, हरि, चाहता हूं, वैसे ही प्रभु-दर्शन ।
हे विश्वरूप, हे सहस्रभुज, अब होकर –
उस रूप चतुर्भुज में आयें, हे भगवन ॥११.४६॥

श्रीभगवान बोले –

निज योगशक्ति से परम तेजमय मैं ने,
तुझ पर प्रसन्न हो, अति कृपालु, हे अर्जुन ।
दिखलाई आदि अनन्त विश्व छवि, जिसके –
तुझसे पहले नहिं हुए किसी को दर्शन ॥११.४७॥
हे अर्जुन, तेरे सिवा न भू पर मेरा,
यह रूप यज्ञ से, वेद पाठ, दानों से ।

या उग्र तपों से अन्य क्रियाओं से या,
देखा जाना सम्भव नहीं अन्य जनों से ॥११.४८॥
यह देख परम विकराल रूप व्याकुलता,
तुझ में विमूढ़ता-भाव न होवे, अर्जुन ।
हो भय विहीन अति प्रीति हृदय वाला तू ,
कर पूर्व रूप का मेरे फिर से दर्शन ॥११.४९॥

संजय बोले –
यह कह अर्जुन को वासुदेव ने फिर से,
अपना पहला वैसा ही रूप दिखाया ।
फिर सौम्य मूर्ति हो कर महात्मा हरि ने,
भयभीत हुए अर्जुन को धैर्य दिलाया ॥११.५०॥
अर्जुन बोले –
हे जनार्दन देख यह, तव प्रशान्त नर-रूप ।
हो सचेत मैं पा गया, अपना सहज स्वरूप ॥११.५१॥

श्रीभगवान बोले –
तुमने मम रूप के दर्शन । किये, बहुत दुर्लभ वह, अर्जुन ।
स्वयं देवता नित्य तरसते । यही रूप-दर्शन-इच्छा ले ॥११.५२॥
नहीं तपस्या से, वेदों से । नहीं दान से या यज्ञों से ।
सम्भव है मेरा यह दर्शन । जो तुम ने पाया है, अर्जुन ॥११.५३॥
मात्र अनन्य भक्ति से, अर्जुन । तत्त्व ज्ञान को मम यह दर्शन ।
एक भाव होने को, पाण्डव । ममम्य होने को है सम्भव ॥११.५४॥
मेरे लिये कर्म करता जो । मुझ में रम, मम भक्त रहा जो ।
अनासक्त निर्वैर सभी में । पाता है, हो एक मुझी में ॥११.५५॥

इति एकादशोऽध्यायः

बारहवां अध्याय
भक्तियोग

अर्जुन बोले –

योगश्रेष्ठ को तव करे, चिर पूजा जो भक्त ।
या उत्तम, जो पूजते, अविनाशी, अव्यक्त? ॥१२.०१॥

श्रीभगवान बोले –
मुझ में मन एकाग्र करे जो । अति श्रद्धा से मुझे भजे जो ।
योगिजनों में वे अति उत्तम । मान्य पुरुष मुझको सर्वोत्तम ॥१२.०२॥

सब इन्द्रियों को वश में कर । सर्वव्याप्त ध्रुव निश्चल अक्षर ।
चिन्तनीय कथनीय नहीं जो । नित्य एकरस को भजते जो ।
सर्वजीव-हित-रत समभावी । प्राप्त करेंगे मुझको वे भी ॥१२.०३-०४॥
मन अव्यक्त-भक्ति में जिसका । क्लेश विशेष अधिक श्रम उसका ।
गति अव्यक्त विषम, देहधारी – पाता करके विपदा भारी ॥१२.०५॥
सब कर्मों को मुझको अर्पण । मम मय हो मेरा ही पूजन ।
करते ध्यान अनन्य चिरन्तन । मुझमें लगा पूर्ण जिनका मन ।
सागर शीघ्र मृत्यु-संसारा । उन भक्तों का मैं ही तारा ॥१२.०६-०७॥
मनस-बुद्धि मुझमें लगा, मम चिन्तन हर सांस ।
निस्संदेह तुम्हें मिले, तब मुझमें ही वास ॥१२.०८॥

मुझमें धरने में निश्चल मन । हो सामर्थ्य न यदि हे अर्जुन ।
तो अभ्यासयोग से मुझको । पाने की इच्छा हो तुझको ॥१२.०९॥
नहिं अभ्यासयोग में भी क्षम । ममहित कर्म-परायण हो तुम ।
करते कर्म सभी मेरे हित । प्राप्त सिद्धि को होगे निश्चित ॥१२.१०॥
यदि यह भी तुम नहिं पाओ कर । आत्मजयी मम आश्रित होकर ।
करो योग आसक्त रहित हो । सभी कर्मफल-इच्छा त्यागो ॥१२.११॥

श्रेष्ठ ज्ञान अभ्यास से, श्रेष्ठ ज्ञान से ध्यान ।
उससे गुरु फलत्याग है, करता शान्ति प्रदान ॥१२.१२॥
द्वेषहीन सब जीब-सखा हो । करुणावान, न मद-ममता हो ।

सुखदुख एक समान जिसे हो । क्षमाशील जो मनुज महा हो ॥१२.१३॥
योगी जो सन्तुष्ट निरन्तर । आत्मजयी संयमी महत्तर ।
दृढ़निश्चयी, मनस-धी अर्पित – मुझको, प्रिय वह भक्त मुझे नित ॥

क्लेश न पाता लोक से, लोक न जिससे क्लेश ।
हर्ष-अमर्ष न क्रोध-भय, प्रिय मम भक्त हमेश ॥१२.१५॥

इच्छा-रहित, कुशल, पावन मन । पक्षपात से रहित, सुखी जन ।
अनासक्त अभिमान न घेरा । भक्त वही अति प्रिय है मेरा ॥१२.१६॥
द्वेषहीन, नहिं सुख में हर्षित । इच्छाहीन, शोक नहीं किंचित ।
सब शुभ-अशुभ कर्मफल त्यागी । भक्तिपूर्ण मम प्रिय बड़भागी ॥
शत्रु-मित्र औ मान-निरादर । सुख-दुख, शीतल-गरम बराबर ।
जिसको, जो आसक्ति-रहित अति । समान जिसे हो निन्दा-संस्तुति ॥
हर प्रकार संतुष्ट सदा ही । मननशील अनिकेत महा ही ।
सुस्थिर बुद्धि, भक्तिमय तन-मन । वह नर मुझको अति प्रिय, अर्जुन ॥
धर्म-सुधा जो यह प्रस्तुत की । श्रद्धावान पुरुष जिस ने पी ।
स्वयं प्राप्य उनको, माममय वे । भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय वे ॥१२.२०॥

इति द्वादशोऽध्यायः

तेरहवां अध्याय
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवान बोले –

कौन्तेय, तन क्षेत्र यह, कहते ऐसा विज्ञ ।
जो इस को है जानता, कहलाता क्षेत्रज्ञ ॥१३.०१॥
क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी, भारत, मुझ को जान ।
ज्ञान क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का, मेरे मत में ज्ञान ॥१३.०२॥

जो है क्षेत्र और है जैसा । किस कारण विकारमय वैसा ।
सप्रभाव क्षेत्रज्ञ का वर्णन । थोड़े में मुझसे सुन, अर्जुन ॥१३.०३॥

गाया भांति भांति ऋषियों ने । पृथक पृथक श्रुति के मंत्रों ने ।
युक्तियुक्त निश्चय करके औ । गाते ब्रह्मसूत्र पद उसको ॥१३.०४॥

मूल प्रकृति, महाभूत, अहं औ । बुद्धि और दस इन्द्रियां, मन औ ।
पांच इन्द्रियों के और विषय । इच्छा-द्वेष, पिण्ड, देह-संचय ।
धैर्य चेतना, सुख-दुख, अर्जुन । यह सविकार क्षेत्र लघु-वर्णन ॥
निरभिमान, मन-वचन सरलता । क्षमा, अहिंसा, दम्भ-रहितता ।
गरु सेवा, तन-मन की शुचिता । मन-इन्द्रिय-निग्रह, सुस्थिरता ॥
इन्द्रिय-भेग-विराग चिरन्तन । अहंकार से शून्य सरल मन ।
जन्म, बुढ़ापा, दुख औ मरना । रोग-दोष का चिन्तन करना ॥

पत्नी, पुत्र, भवन औ धन में । अनासक्ति, ममता नहिं मन में ।
इष्ट-अनिष्ट प्राप्त करके जन । एक समान नित्य निश्चल मन ॥
अनन्य योग से अति अविकारी । भक्ति मुझी में शुचितम सारी ।
शुद्ध एकान्त-देश-सेवन नित । जन-समुदाय-राग नहिं किंचित ॥
नित्य अध्यात्म-ज्ञान में तन-मन । तत्त्वज्ञान हित प्रभु का दर्शन ।
यही ज्ञान, इसका उल्टा जो । कहा गया अज्ञान उसीको ॥

जो है ज्ञेय, जिसे औ पाकर । प्राप्त अमरता को करता नर ।
कहता हूं , जो आदि-रहित है । परम ब्रह्म सत् न ही असत् है ॥

हैं सब ओर हाथ पग उसके । नेत्र, कान, मुख, शिर सब दिशि से ।
पूर्ण लोक में पूर्ण अवस्थित । सब में व्याप्त, घेर सबको नित ।।

इन्द्रिय-गुण सब जानता, सर्व-इन्द्रिय-विहीन ।
अनासक्त, जग पालता, निर्गुण वह गुण-लीन ।।१३.१४।।

सब जीवों के भीतर-बाहर । विद्यमान है, अचर वही चर ।
सूक्ष्म रूप, जाने नहिं कोई । अति समीप, अति दूर है वो ही ।।१३.१५।।
है अविभक्त, प्राणियों में पर । अलग-अलग सा है परमेश्वर ।
ज्ञेय वही, पालक-नाशक भी । ब्रह्मरूप में उत्पादक भी ।।१३.१६।।

ज्योति-ज्योति की ज्योति परम वह । तम से परे ज्ञान अनुपम वह ।
सब मन बसा ज्ञेय है वो ही । तत्त्वज्ञान से मिलता सो ही ।।१३.१७।।

क्षेत्र, ज्ञेय औ ज्ञान का, वर्णन यह संक्षिप्त ।
जान जिसे भक्त हो, मम स्वरुप में लिप्त ।।१३.१८।।
प्रकृति-पुरुष दोनों सतत, हैं अनादि, तू जान ।
प्रकृति-जात ही गुण तथा, सब विकार तू मान ।।१३.१९।।

कार्य-करण-उद्भव का कारन । प्रकृति मात्र को कहते, अर्जुन ।
सुखों दुखों के भोक्तापन का । कारन पुरुष, कथन बुधजन का ।।

पुरुष प्रकृति में रमा हुआ रे । भोगे प्रकृति-जात गुण सारे ।
गुण-संयोग जन्म का कारन । अच्छी-बुरी योनि में, अर्जुन ।।१३.२१।।
रह इस तन में पुरुष कहाता । द्रष्टा,भर्ता, सम्मति दाता ।
भोक्ता, परमात्मा, महेश्वर । नाम अनेक इसे देते नर ।।१३.२२।।
प्रकृति गुण सहित और पुरुष को । तत्त्वरूप से जाने जन जो ।
कैसा भी व्यवहार करे वह । पुनर्जन्म तन फिर न धरे वह ।।१३.२३।।

आत्म-बुद्धि से कोई देखें । आत्म-ध्यान से हृदय विलोकें ।
सांख्ययोग से देखें बहुजन । कर्मयोग से करते दर्शन ।।१३.२४।।
किन्तु अन्य अनजाने इन से । भजते हैं सुनकर औरों से ।
श्रवण-परायण वे सब भी नर । करते पार मृत्यु का सागर ।।१३.२५।।

जो भी वस्तु जगत में पैदा । होती है चर और अचर या ।
क्षेत्र-क्षेत्री संयोग ही कारन । सभी सृष्टि का जानो, अर्जुन ॥१३.२६॥

सब नश्वर जीवों में जो नर । देखे अविनाशी परमेश्वर ।
तुल्यभाव से पूर्ण अवस्थित । वही देखता सत्य सुनिश्चित ॥१३.२७॥
समता-भाव-पूर्ण हो जो नर । व्याप्त सभी में देखे ईश्वर ।
नष्ट स्वयं को स्वयं न करेगा । परम मोक्षगति प्राप्त करेगा ॥१३.२८॥

प्रकृति कर्म सब कर रही, आत्म अकर्ता नित्य ।
जो जन ऐसा देखता, वही देखता सत्य ॥१३.२९॥

अलग भाव जीवों के सारे । आधारित एक में विचारे ।
है विस्तार एक ही का सब । देखे, ब्रह्म-प्राप्ति होती तब ॥१३.३०॥
होने से अनादि औ निरगुन । यह अविनाशी प्रभु, हे अर्जुन ।
यद्यपि तन में रमता है वह । अलिप्त, कुछ नहिं करता वह ॥१३.३१॥
सर्वव्यापी सूक्षम होने से । लिप्त नहीं होता नभ जैसे ।
वैसे ही सब देहों में रह । आत्मा लिप्त नहीं होती यह ॥१३.३२॥
एक मात्र ही रवि जैसे नित । करता यह सब लोक प्रकाशित ।
यूं क्षेत्रज्ञ क्षेत्र पूरा ही । अर्जुन, ज्योतित करे सदा ही ॥१३.३३॥
क्षेत्र-क्षेत्री के यूं अन्तर को । जीव-प्रकृति से मुक्ति सुपथ को ।
ज्ञान-चक्षु से जो जानेंगे । परम ब्रह्म को वे पा लेंगे ॥१३.३४॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः

चौदवां अध्याय
गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवान बोले –

परम सिद्धि को पा गये, मुनि सब जिसको जान ।
फिर से कहता हूं परम, ज्ञानोत्तम वह ज्ञान ॥१४.०१॥

इसी ज्ञान का अश्रय पाकर । मेरा ही स्वरूप अपनाकर ।
जन्म न लेते सृष्टि-उदय में । व्यथित न होते लोक-प्रलय में ॥१४.०२॥

प्रकृति योनि है मेरी, अर्जुन । ब्रह्म रूप यह, जिस में धारन ।
करूं गर्भ, जिस से जीवों की । पैदायश है, पार्थ, सबों की ॥१४.०३॥

योनि-योनि में मूरत जो भी । महत-ब्रह्म है योनि सभी की ।
बीजों का करके प्रस्थापन । पिता सभी इनका मैं, अर्जुन ॥१४.०४॥

हुए प्रकृति से ही हैं, अर्जुन । सत्त्व, रजस, तम तीनों ही गुन।
हैं शरीर में बांध रहे जो । इस अविनाशी जीवात्मा को ॥१४.०५॥
हे निष्पाप, सत्त्वगुण इस थल । द्युतिकर, निर्विकार हो निर्मल ।
ज्ञान, सुखों से करके मोहित । कर लेता जीवों को बन्धित ॥१४.०६॥
रागरूप यह जान तमोगुन । कामासक्ति-जात, हे अर्जुन ।
कर्मफलों से कर आकर्षित । जीवात्मा को करता बन्धित ॥१४.०७॥
तमस अज्ञान-जात है, अर्जुन । मोहित करता है जो सब जन ।
नीन्द, प्रमाद, अलसता दे कर । लेता जीवात्मा बन्धित कर ॥१४.०८॥
सुख-संलग्न करे है सतगुन । लिप्त कर्म में करे रजोगुन ।
करके ज्ञान पूर्ण आच्छादित । करे तमोगुण प्रमाद-प्रेरित ॥१४.०९॥

दबा रजस तम गुण को, अर्जुन । उन्नति को पाता है सतगुन ।
सत्त्व, रजस गुण दब, तम बढ़ता । दबा सत्त्व तम को रज चढ़ता ॥

सब इन्द्रियों में देह की, जब हो ज्ञान-उजास ।
यह जानो तब सत्त्वगुण, का है हुआ विकास ॥१४.११॥

बढ़े रजोगुण जब, हे अर्जुन । होता लोभ-प्रवृत्ति-प्रवर्द्धन ।

कर्मों का आरम्भ अस्थिरता । भोग-लालसा में मन बढ़ता ॥१४.१२॥
बढ़े तमोगुण, जब कुरुनन्दन । घिरता है अज्ञान-तमस-घन ।
आलस, मोह, प्रमाद अ-करतब । पैदा हो जाते हैं ये सब ॥१४.१३॥

सवगुणों की बढ़ोतरी जब – हो, यह देही अगर मरे तब ।
शुभकर्मी लोगों का उत्तम । पाता दिव्य लोक पावनतम ॥१४.१४॥
बढ़ें रजोगुण, तब मरने पर । कर्मासक्त जनों में हो नर ।
प्राण तमोगुण में जो खोता । पैदा मूढ़योनि में होता ॥१४.१५॥
पुण्यकर्म का सात्विक फल है । श्रेष्ठ ज्ञानमय अति निर्मल है ।
दुख राजस कर्मों का फल है । तामस का अज्ञान कुफल है ॥१४.१६॥
जन्म ज्ञान को सतगुण देता । और रजोगुण लोभ-प्रणेता ।
मोह, अज्ञान, प्रमाद तमोगुन । पैदा करता है, हे अर्जुन ॥१४.१७॥
सात्विक जन ऊपर जाते हैं । राजस मध्यलोक पाते हैं ।
नीच वृत्ति में रत तामस नर । प्राप्त अधोगति को हों पामर ॥१४.१८॥
द्रष्टा जब सिवाय त्रिगुणों के । कर्ता अन्य न और विलोके ।
परे गुणों से जाने ईश्वर । मम स्वरूप पा लेता तब नर ॥१४.१९॥
देह-उत्पत्ति-मूल ये कारण । पुरुष लांघ ले जब तीनों गुण ।
जन्म-मृत्यु-दुख और बुढ़ापा । छूट सभी से, प्रभु को पाता ॥१४.२०॥

अर्जुन बोले –

प्रभु, इन तीनों गुणों से, पार हुआ जो मुक्त ।
उस नर का क्या आचरण, वह किन लक्षण-युक्त ॥१४.२१॥

श्रीभगवान बोले –
मोह, प्रवृति, प्रकाश को पाकर । द्वेष नहीं उन से करता नर ।
और मुक्त निवृत हो उन से । भरा न उनकी आकांक्षा से ॥१४.२२॥
हो तटस्थ सा स्वयं अवस्थित । नहीं गुणों से होता विचलित ।
जान कि कर्म करे गुण ही सब । अडिग रूप, प्रभु में थिर मानव ॥

आत्म-स्थित, सुख-शोक बराबर । सम हैं मिट्टी, सोना पत्थर ।
धीर जिसे प्रिय-अप्रिय हैं सम । निज-निन्दा-प्रशंसा सब हैं सम ॥
मान-अपमान समान जिसे हैं । बैरी नित्र एक जैसे हैं ।

कर्तापन-मद त्याग चुका है । गुणातीत नर वही कहा है ॥

निश्चल भक्तियोग से जो नर । भजता मुझको नित्य निरन्तर ।
गुणातीत जो पूर्ण हुआ है । ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य महा है ॥१४.२६॥

अमृत, पारब्रह्म औ अव्यय । मैं ही हूं इन सब का आश्रय ।
सुख ऐकान्तिक, धर्म सनातन । स्रोत सभी का मैं ही, अर्जुन ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः

पन्द्रहवां अध्याय
पुरुषोत्तमयोग

ऊर्ध्वमूल शाखा अधम, अव्यय पीपल वृक्ष ।
पत्ते जिस के वेद हैं, जो जाने श्रुति दक्ष ॥१५.०१॥

विषय-भोग-कोंपल दल वाली । गुण-जल से नित बढ़ने वाली ।
यो निरूप शाखायें, अर्जुन । ऊपर नीचे फैली अनगिन ॥
कर्म-अनुसार बांधने वाली । जड़े वासना-ममता शाली ।
ऊपर नीचे बहु विस्तारित । मनुज लोक में व्याप्त अपरिमित ।

जैसा इसका रूप कहा है । वैसा पाया नहीं गया है ।
आदि अन्त इसका नहिं किंचित । भली प्रकार जो नहीं अवस्थित ।
गहन मूल दृढ़ यह तरु पीपल । काटे जग-विरक्ति असि-सम्बल ।
फिर खोजे भली भांति परम पद । आते नहीं जिसे पा फिर जग ।
उस ही आदि पुरुष का आश्रय । सोचे, उसे मिला है अक्षय ।
जिससे विस्तृत हुई पुरातन । वृक्ष-विभूति विश्व में हर कन ।

मान-मोह-प्रभृति से निवृत । राग द्वेष कर चुके पराजित ।
जो अध्यात्म-अवस्थित शाश्वत । पूर्व कामनाओं से निवृत ।
अविनाशी पद वे पाते हैं । लौट न फिर जग में आते हैं ।
कभी सूर्य से वह न प्रकाशित । अग्नि-चन्द्र से वह न प्रभासित ।
जाकर जहां न लौटे फिर जन । परमधाम मेरा वह अर्जुन ।

जीवलोक में अंश सनातन । जीवात्मा मेरा ही, अर्जुन ।
मन षट् इन्द्रिय प्रकृति-अवस्थित । करता है वह ही आकर्षित ।

सुमन-सुमन से गंध पवन ज्यों । और जगह ले जाती है त्यों ।
जीवात्मा तन त्याग पुरातन । मनेन्द्रियां ले जाता नव तन ।

त्वचा, कान, रसना, नयनों का । आश्रय ले मन नासेन्द्रियों का ।

जीवात्मा भोगता विषय हर । उसे न देखे अज्ञानी नर ।
ज्ञान-चक्षु जो बुध जन रखते । केवल वही देख हैं सकते ।
तन-त्यागते, भोगते, सुस्थित । तीन गुणों से हुए समन्वित ।

हृदयस्थित आत्मा के दर्शन । करते यत्नशील योगीजन ।
अशुद्ध-मन, अविवेकी मानव । करें प्रयत्न, न दर्शन सम्भव ।

तेज सूर्य में अवस्थित, करें प्रकाशित लोक ।
अर्जुन, मेरा जान तू , चन्द्र-अनल-आलोक ॥१५.१२॥

आत्मशक्ति से मैं प्राणीगण । भू-प्रवेश कर करता धारण ।
बन कर चन्द्र और रसधारी । पुष्ट करूं औषधियां सारी ।
जीव-तनों में बन वैश्वानर । प्राण-अपान-वायुमय होकर ।
मैं ही अन्न चतुर्विध खाता । अग्नि रूप में उन्हें पचाता ।
सब के हृदय-अवस्थित हूं मैं । समाधान, ज्ञान, स्मृति हूं मैं ।
मैं ही हूं वेदान्त-प्रणेता । वेद-ज्ञेय, वेदज्ञ सचेता ।

क्षर-अक्षर दो भांति के, पुरुष बसे इस लोक ।
जीव सभी क्षर, आत्मा, अक्षर कहता लोक ॥१५.१६॥

उत्तम पुरुष अन्य इन से है । जग-पोषक त्रैलोक्य-बसे है ।
परमात्मा, अविनाशी, ईश्वर । कहते ऐसे उसको हैं नर ।

क्योंकि मैं अतीत हूं क्षर से । और उत्तम हूं मैं अक्षर से ।
यूं ही पुरुषोत्तम लोकों में । मैं प्रसिद्ध हूं सब वेदों में ।
हे भारत, यूं ज्ञानी निभ्रम । मुझे जानता है पुरुषोत्तम ।
वह सर्वज्ञ सतत पूरे मन । करता भजन मनन मम पूजन ।
हे निष्पाप, निष्कलुष अर्जुन । ज्ञान गुह्यतम का जो वर्णन –
मैं ने किया, जान वह प्राणी । हो जाता कृतार्थ औ ज्ञानी ।

इति पञ्चदशोऽध्यायः

सोलहवां अध्याय
दैवासुरसंपद्विभागयोग

श्रीभगवान बोले –
अभय, दान, चिरशुद्धि हृदय की । सुस्थित ज्ञानयोग निश्चय की ।
इन्द्रिय-दमन, सरलतम तन-मन । यज्ञ, त्याग, स्वाध्याय, तपोधन ।।
सत्य, अहिंसा, काम न तृष्णा । लज्जा, जीव-जीव प्रति करुणा ।
शान्ति, अक्रोध, अनिन्दा, कोमल – भाव, वृत्ति औ पूर्ण अचंचल ।।
तेज, क्षमा, धृति, शुचिता पावन । निरभिमानता, द्रोह नहीं मन ।
भारत, ये लक्षण शुचि मन के । दैवी-सम्पदा-प्राप्त सुजन के ।।

दम्भ-दर्प, अभिमान-बहुलता । क्रोध, अज्ञान, वचन की कटुता ।
असुर-सम्पदा-प्राप्त असज्जन । अभद्र जन के लक्षण, अर्जुन ।।१६.०४।।

दैवी-सम्पत मोक्ष दे, आसुरी बन्धन-अर्थ ।
दैवी-सम्पत-प्राप्त है, शोक न कर तू , पार्थ ।।१६.०५।।

आसुर दैव द्विभावी हैं जन । लोक बसा है जिन से, अर्जुन ।
पूर्ण रूप से दैव बखाना । मुझसे सुनो आसुरी बाना ।।१६.०६।।

क्या करना है, क्या नहिं करना । नहीं जानते आसुरी-धर्मा ।
शुचिता, शिव आचार न उन में । सत्य-वचन-व्यवहार न उन में ।।
आश्रय-ईश-हीन, झूठा भव । कहते वे, संयोग-जनित भव ।
भोग-हेतु ही लोक बना है । इसके सिवा और कुछ क्या है? ।।१६.०८।।

मिथ्या ज्ञान धार कर ऐसे । नष्टात्मा मूरख नर वैसे ।
क्रूर-कर्म पर-अहित-ध्वंसे वे । जगत-नाश के लिये हुए वे।।१६.०९।।
दम्भ-मान-मद-पूर्ण असज्जन । अति अलभ्य कामना लिये मन ।
असत्-आग्रही मोहवश होकर । भ्रष्ट-आचरण में जीते नर ।।१६.१०।।
जीते वे ले आमरण, चिन्ता अमित, अशान्त ।
विषय-भोग ही सुख परम, जिन का है सिद्धान्त ।।१६.११।।

आशाओं के शत-शत बन्धन । काम-क्रोध से ग्रस्त चिरन्तन ।
विषय-भोग-हित अनीति बरते । धन-संचय की चेष्टा करते ॥१६.१२॥
प्राप्त हुआ है आज मुझे यह । सिद्ध मनोरथ होगा कल वह ।
मेरे पास आज धन इतना । और मिलेगा जाने कितना ॥१६.१३॥
आज शत्रु मैं ने यह मारा । करूं और का भी निस्तारा ।
मैं ही भोगी, मैं ही ईश्वर । हूं बलवान, सुखी, सिद्धेश्वर ॥१६.१४॥
अति धनवान, कुलीन, कुटुम्बी । मेरे जैसा नहिं कोई भी ।
यज्ञ-दान कर हूंगा हर्षित । वे हैं यूं मूढ़ता-विमोहित ॥१६.१५॥

भांति-भांति से भ्रमित चित, मोह-जाल-सम्पृक्त ।
घोर नरक में वे गिरें, विषय-भोग आसक्त ॥१६.१६॥

आत्म-प्रशंसक, घोर घमण्डी । धन-अभिमान-भरे पाखण्डी ।
विधिविहीन अपकर्म करें वे । नाम मात्र के यज्ञ करें वे ॥१६.१७॥

अहंकार-बल-दर्प-भरे वे । काम-क्रोध में गहन धंसे वे ।
परनिन्दक, द्वेषी मेरे ही । जो तन में उन के, सब के ही ॥१६.१८॥
द्वेषी, क्रूर, अधम, पापी नर । उन को बारम्बार निरन्तर ।
गिरा रहा हूं मैं जग माहीं । आसुर नीच योनियों में ही ॥१६.१९॥
जनम-जनम में वे मतिहारे । योनि आसुरी गिरें बिचारे ।
मुझको कभी न, अर्जुन, पाते । फिर हैं घोर अधम गति जाते ॥

काम, क्रोध अरु लोभ हैं, त्रिविध नरक के द्वार ।
नर यूं तीनों ये तजे, आत्म-विनाशन हार ॥१६.२१॥

तीनों नरक द्वार तज, अर्जुन । मुक्त हो गया है जो भी जन ।
निज-कल्याण-आचरण करता । जिससे प्राप्त परमगति करता ॥
त्याग शास्त्र-विधि जो भी, अर्जुन । मनमाने ही कर्म करे जन ।
नहीं सिद्धि वह प्राप्त करेगा । न ही परम गति-सौख्य वरेगा ॥१६.२३॥
कार्य-अकार्य करे जब निर्णय । शास्त्र प्रमाण जान तू निश्चय ।
शास्त्र-विधान-नियत विधि-सम्मत । हैं करणीय कर्म तेरे हित ॥

इति षोडशोऽध्यायः

सत्रहवां अध्याय
श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन बोले –

श्रद्धारत पूजें, तजें, शास्त्र-रीति सर्वस्व ।
उन की निठा कौन हरि, तमस, रजस या सत्त्व ॥१७.०१॥

श्रीभगवान बोले –
जन्मजात संस्कार-जनित जो । तीन प्रकार की है श्रद्धा वो ।
सात्विक, राजस, तामस, अर्जुन । सभी प्रकार की वह मुझसे सुन ॥
श्रद्धा सत्त्व-अनुरूप सभी की । मानव स्वयं मूर्ति श्रद्धा की ।
श्रद्धा जैसी जिसकी, अर्जुन । वैसा ही वह स्वयं बने जन ॥१७.०३॥
सात्विक जन पूजें देवों को । राजस यक्षों को, असुरों को ।
अन्य मनुज जो हैं तामस जन । करते भूत प्रेत का पूजन ॥१७.०४॥

हीन शास्त्र-विधि से हो जो जन । तपते घोर तपस हैं निशि दिन ।
अहंकार और दम्भ-भरे जो । काम-राग-बल-दर्प घिरे जो ॥
तन में व्याप्त पंचभूतों को । अन्तर्यामी मुझको भी जो ।
कष्टदायी हैं, वे मूरख जन । निश्चित जान, आसुरी, अर्जुन ॥

यज्ञ, भोज, तप, दान भी, प्रिय जन-रुचि अनुसार ।
इनके भेदों को सुनो, सब के ही तीन प्रकार ॥१७.०७॥

बुद्धि सात्विक, आयु बढ़ाता । बल-आरोग्य-प्रीति-सुख-दाता ।
रसमय, स्निग्ध, चिरस्थिर, उर-प्रिय । ये आहार सात्विकों के प्रिय ॥
बहुत गरम, खट्टे, कटु, तीखे । दाहक, नमकयुक्त और रूखे ।
शोक-रोग-दुखदायक, अर्जुन । राजस पुरुषों के प्रिय भोजन ॥
रस विहीन, अधपका, अपावन । बासी, जूठा, दूषित भोजन ।
प्रिय है सब तामसी जनों का । (सेवन मांस और मदिरा का ॥

'स्वधर्म है इस यज्ञ का करना' - समझाकर मन को यूं रखना ।
विधिवत फल की इच्छा के बिन । यज्ञ सात्त्विक होता, अर्जुन ॥

जिन में हो पाखण्ड दिखाना । हो उद्देश्य फलों का पाना ।
भरतश्रेष्ठ, ऐसे यज्ञों को । यज्ञ राजसी जानो, समझो ॥१७.१२॥

अन्नदान-विधि-रहित जो, बिना दक्षिणा दीन ।
तामस यज्ञ कहें उसे, श्रद्धा-मंत्र-विहीन ॥१७.१३॥

सुर, द्विज, गुरु, ज्ञानी-जन पूजन । शुचिता भरा, सरलतामय मन ।
ब्रह्मचर्य-साधना-अहिंसा । तन का तप होता है ऐसा ॥१७.१४॥
सत्य, शान्त, प्रिय, सब को हितकर । अति उद्वेग-विहीन वचन वर ।
शास्त्र-पठन अभ्यास बढ़ाता । वाणी का तप वह कहलाता ॥१७.१५॥
शान्त भाव, मानस-सुख-वर्द्धन । मौन और वश में करना मन ।
भाव-शुद्धि भीतर बाहर की । परिभाषा है मन के तप की ॥१७.१६॥
फल-इच्छा-विहीन योगी जन । श्रद्धा से असीम भर कर मन ।
तीन भांति का यह करते जो । सात्त्विक तप कहते हैं उस को ॥

मिले मान आदर हों पूजित । किया दम्भ से जो इस के हित ।
नश्वर फल, उस में भी शंका । राजस तप है नाम उसीका ॥
मूरखता से जो तप हठ कर । किया स्वयं को पीड़ा दे कर ।
पर-विनाश ध्येय हो जिस का । तप तामसी नाम है उस का ॥

देश काल औ पात्र पा, मात्र मानकर धर्म ।
अनुपकारिणी को दिया, सात्त्विक दान सुकर्म ॥१७.२०॥

क्लेश भरा. फल-इच्छा ले मन । बदले में कुछ मिले, प्रयोजन ।
जब यूं दान किया जाता है । राजस दान कहा जाता है ॥१७.२१॥
बिन सत्कार, वितृष्णा ले मन । देश काल का ध्यान किये बिन ।
जो कुपात्र को हैं धन देते । तामस दान उसे हैं कहते ॥१७.२२॥
तत् , सत् , ओम् , ये तीन विधा के । कहे गये हैं नाम ब्रह्म के ।
आदि काल में उस ने ही की । रचना वेद, यज्ञ, ब्राह्मण की ॥१७.२३॥

ब्रह्मनिष्ठ सब इस कारण ही । विधि-पद्धति लेकर शास्त्रों की ।
यज्ञ-दान-तप-क्रिया सभी ही । शरु करते हैं 'ओम्' कहकर ही ॥
यज्ञ-दान-तप आदि क्रियाएं । फल की त्याग सभी इच्छाएं ।
सदा शब्द 'तत्' उच्चारण कर । करते मोक्ष-चाह वाले नर ॥१७.२५॥
सत्य भाव औ साधु भाव हित । यह 'सत्' नाम होय उच्चारित।

पार्थ, कर्म जब करते उत्तम । कहते शब्द यही 'सत्' शुचितम ॥
यज्ञ, दान, तप में जो सुस्थित है । कही गई वह सब ही 'सत्' है ।
उस प्रभु के हित कर्म किया जो । 'सत्' ही कहा गया है उस को ॥

दान-तपस्या-हवन जो, करते श्रद्धाहीन ।
'असत्' कर्म वह व्यर्थ सब, सर्व-लोक फल-हीन ॥१७.२८॥

इति सप्तदशोऽध्यायः

अठारहवां अध्याय
मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन बोले –

हृषीकेश, महाबाहु, हरि, इच्छा मम भगवान ।
तत्त्व त्याग, संन्यास का, अलग-अलग लूं जान ॥१८.०१॥

श्रीभगवान बोले –
कर्म सकाम त्यागना, अर्जुन । हैं संन्यास, कहें यह बुद्धजन ।
सभी कर्म-फल-त्याग, विचारक । कहते उसे त्याग हैं चिन्तक ॥
वहु बुधजन ऐसा कहते हैं । कर्म त्याज्य सब, दोष भरे हैं ।
यज्ञ-दान-तप-कर्म नहीं, पर । त्याज्य, अन्य कहते विद्वत्वर ॥१८.०३॥
त्याग-विषय में अब, हे अर्जुन । पुरुष व्याघ्र, मेरा निश्चय सुन ।
सात्विक, राजस, तामस भी है । त्याग भी तीन कोटि का ही है ॥
यज्ञ, दान, तप त्याज्य नहीं हैं । ये करणीय सुनिश्चित ही हैं ।
यज्ञ, दान, तप ये सब, अर्जुन । मनीषियों को करते पावन ॥१८.०५॥
ये सब, और अन्य भी, अर्जुन । त्याग कर्म-फल-मोह करे जन ।
यही सुनिश्चित, अर्जुन, है मम । परमश्रेष्ठ मत मेरा उत्तम ॥१८.०६॥

नियत स्वधर्म-कर्म का त्यागन । उचित नहीं होता है, अर्जुन ।
उनका त्याग मोहवश, अर्जुन । तामस त्याग कहें पंडित जन ॥

कर्म सभी दुख, सोच यही मन । कर्म को दुख-भय से त्यागे जन ।
त्याग राजसी को करके नर । नहीं त्याग फल है पाता पर ॥१८.०८॥

'कर्म-क्रिया कर्त्तव्य है' , सोच मोह-फल त्याग ।
नियत कर्म, अर्जुन, करे, वह है सात्विक त्याग ॥१८.०९॥

अशुभ कर्म से द्वेष नहीं है । शुभ में मोह का लेश नहीं है ।
सत्त्वगुणों से युत, निर-संशय । ज्ञानी नर त्यागी है निश्चय ॥१८.१०॥
देहधारी को सब कर्मों का । पूर्ण त्याग सम्भव नहीं होता ।
जोभी पुरुष कर्म-फल-त्यागी । सच्चा वही है अविकल त्यागी ॥

फल शुभ, अशुभ, मिश्र हैं कामी । पाते त्रिविध होय परगामी ।
संन्यासी त्यागी जन तो पर । उन से मुक्त त्रिकाल निरन्तर ॥१८.१२॥

सब कर्मों की सिद्धि में कारन । कहता पांच सांख्य का दर्शन ।
महाबाहो, उन सब को मुझ से । जान, कहूंगा जो मैं तुझ से ॥१८.१३॥
कृति-आधार और कर्ता रे । करण यानि साधन सब सारे ।
चेष्टा-यत्न विविध हैं जैसे । हेतु पांचवां देव हि वैसे ॥१८.१४॥

मन-तन-वाणी से जो विधिवत । नर करता या शास्त्र-असम्मत ।
कृतियां जो आरम्भ हुई हैं । उनके कारण पांच यही हैं ॥१८.१५॥

अशुभ-बुद्धि जो आत्म को, बैठा कर्ता मान ।
उस दुर्मति को है नहीं, तत्त्व सत्य का ज्ञान ॥१८.१६॥

"मैं कर्ता" न भावना जिस की । बुद्धि लिप्त आसक्त न जिस की ।
यदि ये सब जन मारे भी वह । हत्या-बन्धन-मुक्त तदपि वह ॥१८.१७॥
ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों ये । स्रोत प्रेरणा हैं कर्मों के ।
कर्ता, क्रिया, करण या साधन । मिल करते कर्मों का प्रणयन ॥
ज्ञान, कर्म, कर्ता तीनों, अब । गुण अनुसार भेद से ये सब ।
तीन भांति से सांख्य बखाने । भलीभांति सुन कर तू जाने ॥१८.१९॥
अलग अलग सब ही जीवों में । एक अनश्वर भाव सबों में ।
जिससे करता नर सम-दर्शन । सात्विक ज्ञान जान वह, अर्जुन ॥
भिन्न-भिन्न जीवों में सारे । भाव अनेक अवस्थित न्यारे ।
भिन्न-भिन्न देखे जिस से जन । राजस भाव जान वह, अर्जुन ॥१८.२१॥

पूर्ण एक ही कार्य-बदन में । है आसक्त उसी बन्धन में ।
युक्तिहीन जो पूर्ण अतात्त्विक । ज्ञान तुच्छ है वही तामसिक ॥

मोह हीन विधिवत किया, रागद्वेष बिन काम ।
बिना फलों की चाह के, सात्त्विक उसका नाम ॥१८.२३॥

लगे परिश्रम जिस में भारी । फल की रही कामना सारी ।
मद से नर करता है जिस को । राजस कर्म कहा है उस को ॥
पौरुष या सामर्थ्य न देखे । क्षति, हिंसा परिणाम न देखे ।
मोहवश जो आरम्भ हुआ है । उसको तामस कर्म कहा है ॥१८.२५॥

मोहमुक्त जो निरहंकारी । सिद्धि-असिद्धि-मध्य अविकारी ।
धैर्यवान उत्साह महा है । सात्त्विक कर्ता उसे कहा है ॥१८.२६॥
रागी, कर्मफलों का कामी । लोभी औ हिंसा पथ गामी ।
हर्ष-शोक से भरा अपावन । राजसी कर्ता कहलाता जन ॥१८.२७॥
चंचल, शठ, मदभरा, निरक्षर । परहित-नाशक, आलस का घर ।
कामचोर, टालू , अवसादी – तामस कर्ता की संज्ञा दी ॥१८.२८॥

बुद्धि और धृति के भी, अर्जुन । त्रिविध भेद को तू मुझ से सुन ।
गुणानुसार जो पूर्ण विभाजित । किये गये बुधजन से वर्णित ॥

कार्य, अकार्य, प्रवृत्ति, निवृत्ति । पार्थ, भय, अभय, बन्धन मुक्ति ।
तत्त्वज्ञान इनका है जिस को । बुद्धि सात्विक कहते उस को ॥१८.३०॥
जिस से धर्म-अधर्म को, जाने नर न यथार्थ ।
ना ही कार्य-अकार्य को, बुद्धि राजसी, पार्थ ॥१८.३१॥

धर्म अधर्म को ही जो माने । अर्थ सभी उल्टे पहचाने ।
ढकी तमस से रहे चिरन्तन । बुद्धि तामसी है वह, अर्जुन ॥१८.३२॥

ध्यानयोग के द्वारा, अर्जुन । दोषहीन धृतिमय जिस से जन ।
क्रिया प्राण की मन-इन्द्रिय की । धारे जिस से, वह सात्त्विक धृति ॥
फलाकांक्षी, आसक्ति-निमज्जित । जिस से, अर्जुन, करता धारित ।
धर्म, अर्थ औ काम सभी ही । धृति राजसी कही है वह ही ॥१८.३४॥
चिन्ता, भय, विषाद औ सपना । नहीं छोड़े जिस से मद अपना ।
दुष्ट बुद्धि वाला नर, अर्जुन । धृति तामसी उसी को तू गुन ॥१८.३५॥
तीन तरह के ही अब सुख से । हो अवगत, सुन मेरे मुख से ।
कर अभ्यास रमण जिस में कर । पाता अन्त दुखों का है नर ॥

विष की भांति प्रथम जो लगता । सुधा-तुल्य परिणाम उमगता ।
आत्मज्ञान के प्रसाद से जो – जन्मा, सात्त्विक सुख ही है वो ॥
पहले अमृत सा लगे, विष सम पर परिणाम ।
इन्द्रिय-भोगों से मिला, सुख राजसी सुनाम ॥१८.३८॥
आदि-अन्त में आत्मा-मन को । मोहित भ्रमित करे जो जन को ।

आलस अति प्रमाद निद्रा से । तामस सुख हैं उस को कहते ॥१८.३९॥
धरा-स्वर्ग में, नर देवों में । प्रकृति-जात इन तीन गुणों में ।
बंधा नहीं है, ऐसा अर्जुन । नहीं कहीं कोई भी है जन ॥१८.४०॥

ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय जन । इन सब के ही कर्म भी, अर्जुन ।
स्वभावोत्पन्न गुणों पर आश्रित । किये गये हैं यहां विभाजित ॥
शम, दम, क्षमा, ज्ञान औ शुचिता । और मनस की, तन की ऋजुता ।
अरु विज्ञान आस्तिकता ये । सहज स्वभाव-कर्म ब्राह्मण के ॥१८.४२॥
धैर्य, तेज, शूरता, निपुण मन । करे युद्ध में भी न पलायन ।
दान, प्रजा का स्वामी शासक । क्षत्रिय-कर्म सहज स्वभाविक ॥

कृषि, व्यापार और गौ पालन । वैश्य-कर्म स्वभाविक, अर्जुन ।
सेवा सब की एक धरम है । जो स्वाभाविक शूद्र-करम है ॥१८.४४॥

सहज स्वकर्म-रत नर करें, परम सिद्धि को प्राप्त ।
कैसे सिद्धि स्वकर्म से, सुनो, वचन मम आप्त ॥१८.४५॥

जिस से पैदा जीव हुए जन । सर्वव्याप्त है जो प्रभु भगवन ।
स्वकर्म से उसकी पूजा कर । परमसिद्धि पा जाता है नर ॥१८.४६॥
शीलोचित परधर्म से बढ़ कर । निज गुणहीन धर्म श्रेयस्कर ।
निज स्वभावगत कर्म करे जो । नहीं पाप का भागी वह हो ॥१८.४७॥
हे कौन्तेय, सदोष हुआ भी । सहज स्वकर्म न त्याज्य कभी भी ।
क्योंकि अग्नि सम ढंकी धुओं से । ढके कर्म सब ही दोषों से ॥

अनासक्त मति, निष्कामी जन । आत्मजयी निस्पृही विमल मन ।
जो संन्यासयोग अपनाये । वह नैष्कर्म्य सिद्धि को पाये ॥१८.४९॥

सिद्धि प्राप्त नर कैसे, अर्जुन । पाता ब्रह्म, उसे मुझ से सुन ।
जो है ज्ञान-परानिष्ठा औ । जानो थोड़े में सुन उस को ॥१८.५०॥

आत्मसंयमी धृति से बन कर । राग द्वेष का औ मर्दन कर ।
तज कर शब्दादिक विषयों को । परम विशुद्ध बुद्धि से युत हो ॥
प्रिय एकान्त जिसे मित भोजन । जिस ने जीते वाणी तन मन ।
ध्यानयोग में लगा निरन्तर । प्राप्त जिसे वैराग्य गहनतर ॥

अहंकार, बल, दर्प तज, काम परिग्रह क्रोध ।
मोहशून्य नर शान्त वह, ब्रह्म-ऐक्य के योग्य ॥१८.५३॥

ब्रह्मभूत, आत्मा से हर्षित । शोक कामना उसे न किंचित ।
जीवों में समभावी हो कर । पराभक्ति मम पाता है नर ॥१८.५४॥
भक्ति से मुझे तत्त्वतः जाने । कौन हूं, कैसा हूं पहचाने ।
जाना मुझे तत्त्वतः जैसे । मुझ में बसा तुरत वह वैसे ॥१८.५५॥

मुझ में रम आश्रित हो मुझ पर । करता हुआ करम हर पल नर ।
मेरी कृपा पूर्ण पा जाता । शाश्वत अविनाशी पद पाता ॥१८.५६॥
मुझे चित्त से सब कर्मों को । पूर्ण समर्पित कर मम मय हो ।
बुद्धियोग का कर अवलम्बन । सतत मुझी में रख अपना मन ॥

निज मन मुझ में रखे निरन्तर । पा मम कृपा जाय सब दुख तर ।
अहंकार वश यदि न सुनेगा । नाश-कुफल ही तुझे मिलेगा ॥१८.५८॥
'नहीं लड़ूंगा' मन में ठाने । अहंकार वश यदि यह माने ।
मिथ्या है तव निश्चय निश्चित । प्रकृति करे तव युद्ध-नियोजित ॥
मोहवश कर्म जिन्हें तेरा मन । नहीं चाहता करना, अर्जुन ।
निज स्वभाव-कर्मों से बन्ध कर । वही करेगा बेबस हो कर ॥१८.६०॥
यंत्र-रूढ हर जीव को, निज माया से ईश ।
भरमाता मन-मन बसा, अर्जुन, मैं जगदीश ॥१८.६१॥

भारत, पूर्णभाव में रमकर । केवल उसकी शरण ग्रहण कर ।
प्रभु की कृपा शान्ति को पा तू । शाश्वत परमधाम को जा तू ॥

मैं ने ज्ञान कहा जो शिवतर । तुझे गूढ़ से गूढ़ उसी पर ।
भली भांति पूरा विचार कर । फिर जैसी भी इच्छा हो, कर ॥१८.६३॥
सर्वगूढ़तम परम वचन मम । अर्जुन, पुनः सुनो इस को तुम ।
तुम हो तात इष्ट अति मेरे । अतः कहूंगा फिर हित तेरे ॥१८.६४॥
मन में मुझे, भजन मेरा ही । कर प्रणाम, अर्चन मेरा ही ।
मुझे प्राप्त होगे, मैं निश्चय । सत्य प्रतिज्ञा करता, मम प्रिय ॥१८.६५॥

सब धर्मों का त्याग करो तुम । केवल मेरी शरण गहो तुम ।
सब पापों से मुक्ति विसर्जन । करूं, शोक मत कर तू , अर्जुन ॥
जो तपहीन, भक्ति से वंचित । श्रवण अनिच्छुक, निन्दा-मज्जित ।
मम प्रति भक्ति-भाव नहिं किंचित । कहो ज्ञान मत यह उसके हित ॥
परम भक्ति से मुझ में रम कर । भक्तों में मम गूढ़ परम वर ।
जो यह शास्त्र-ज्ञान गायेगा । निस्संदेह मुझे पायेगा ॥१८.६८॥

उससे बढ़ कर कर्म प्रिय, मम न करे नर कोय ।
उससे बढ़ कर प्रिय मुझे, और न भू पर होय ॥१८.६९॥

यह धार्मिक संवाद हमारा । जो भी पुरुष पढ़ेगा सारा ।
उससे ज्ञानयज्ञ से पूजित । होऊंगा, मत मेरा निश्चित ॥१८.७०॥

श्रद्धावान, अदोष, सुपावन । केवल सुने इसे जो भी जन ।
पुण्य कर्ममय पाप-रहित हो । शुभ लोकों में उसकी गति हो ॥
सुना, पार्थ, क्या तुमने मन से? हो एकाग्र चित्त पावन से ।
क्या अज्ञान-जनित मोह-क्षय? हुआ तुम्हारे अभी, धनंजय ॥१८.७२॥
अर्जुन बोले –
हे अच्युत आपकी कृपा है । सारा मोह मम नष्ट हुआ है ।
हो संदेह हीन, पा सुस्मृति । थिर हूं , करूं आप की जो मति ॥

संजय बोले –
यूं श्री वासुदेव-अर्जुन का । महामना आत्मा पावन का ।
अद्भुत और परम लोमहर्षक । यह संवाद सुना रोमांचक ॥१८.७४॥
व्यास कृपा से मैं ने, राजन । परम गूढ़ यह योग सनातन ।
स्वयं कृष्ण-योगेश्वर-मुख से । है साक्षात सुना यह कहते ॥
केशव-अर्जुन का शुचि त्राता । अद्भुत, परम पुण्य सुख दाता ।
वह संवाद याद जब आता । बार-बार, राजन, हर्षता ॥१८.७६॥

राजन अद्भुत रूप को, हरि के कर कर याद ।
विस्मय होता है बहुत, बार बार आह्लाद ॥१८.७७॥

हैं योगेश्वर कृष्ण मुरारी । और जहां अर्जुन धनुधारी ।

वैभव, विजय, नीति, श्री, सारे । ध्रुव हैं, मत में, वहां हमारे ॥

इति अष्टादशोऽध्यायः